Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2018 SHISRRJ | Volume 1 | Issue 4 | ISSN : 2581- 6306

संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था से परिवार एवं समाज पर प्रभाव

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

सारांश- वर्तमान में शुद्धि के अन्तर्गत तत्कालीन समय की अपेक्षा अशौच विषयक नियमों में क्षीणता आयी है। अशौच में स्मृति विहित कुछ नियमों का परिवर्तन के साथ अनुसरण किया जा रहा है तो कुछ नियम समाप्त हो गये हैं। जबकि शरीरशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि के क्षेत्र में अधिक उन्नति हुई है। शरीर, स्थल, पात्रों तथा वस्तुओं की स्वच्छता के लिए प्रयुक्त होने वाले आधुनिक उपकरण या रसायन इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

मुख्य शब्द- संस्कार, आश्रम व्यवस्था, सदस्य, कर्तव्य, अधिकार, वर्णव्यवस्था, समाज, स्मृति।

पारवर्तन सृष्टि का नियम है। जो काल, परिस्थिति, देश के अनुरूप होता रहता है। परिवर्तन की इस धारा से आश्रमव्यवस्था भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। जैसे-जैसे समाज की परम्पराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों में परिवर्तन हुआ वैसे-वैसे व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता में भी परिवर्तन होता गया। फलत: आश्रमव्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित होता रहा। वर्तमान भारतीय समाज में तो आश्रमव्यवस्था का मूलभूत स्वरूप परिवर्तित हो चुका है। आयु के अनुसार आश्रमों में प्रवेश देखने को नहीं मिलता। समर्थ कुटुम्ब वाले भी वानप्रस्थ अथवा संन्यास नहीं लेते और न ही अन्य आश्रमों के भरण-पोषण की दृष्टि से आय- व्यय करते हैं जबकि यह व्यवस्था व्यक्तित्व निर्माण के साथ-साथ समाजकल्याण के लिए भी थी। परिवर्तित आश्रमव्यवस्था निम्न प्रकार से है

मनुस्मृति काल में बालक की शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम में उपनयन संस्कार से होता था। इस आश्रम में न केवल शिक्षा अपितु बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर भी बल दिया जाता था। शिष्य गुरुगृह में रहकर विद्यार्जन करता था। साथ ही गुरु के अनुशासन में इन्द्रिय-संयम (ब्रह्मचर्य), बौद्धिक (वेद-ग्रहण), आत्मिक (व्रतादेशन) उन्नति के लिए अनुशासन, कर्त्तव्यपालन, नैतिकता, आचरण की शुद्धता, पवित्रता आदि गुणों को ग्रहण करता था और चरित्र-निर्माण करते हुए आदर्श स्थिति को प्राप्त करता था। आज शिक्षा, शिक्षा के माध्यमादि सभी परिवर्तित हो चुके हैं। आधुनिक शिक्षण संस्थानों- विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों आदि में इस प्रकार के उपनयन का सर्वथा अभाव है, किन्तु जहाँ परम्परागत ढंग से गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती है वहाँ बालक की शिक्षा का प्रारम्भ अभी भी उपनयन संस्कार से होता है। कुछ आधुनिक गुरुकुलों के नाम संस्कार अध्याय में वर्णित किये जा चुके हैं।

एक द्विज को जहाँ निर्धारित आयु में वेदाध्ययन का अधिकार था और वर्णानुसार विभिन्न प्रकार के मेखला, वस्त्र, दण्ड एवं यज्ञोपवीत धारण करने होते थे वहीं आज सभी जाति, धर्मों, सम्प्रदायों के बच्चों को शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार है।

बालक की शिक्षा प्राप्ति की अब कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं की गई है। माता-पिता अपनी इच्छानुसार बालक की बौद्धिक क्षमता के अनुरूप चार या पाँच वर्ष की आयु में विद्यालय भेज सकते हैं। सभी के परिधान भी अपनी-अपनी संस्था के अनुसार हैं, कोई सामान्य नहीं। आज मात्र गुरुकुलों में उपनयन के अवसर पर प्रत्येक छात्र को समान रूप से साधारण स्वच्छ वस्त्र, दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत धारण करवाये जाते हैं और भिक्षाचरण की क्रिया भी सम्पन्न की जाती है। यहाँ दण्ड धारण एवं भिक्षाचरण उसके दैनिक जीवन के अभिन्न अंग न होकर मात्र नियम के पालन हेतु करवाये जाते हैं, क्योंकि परिस्थितिवश अब इनकी अनिवार्यता समाप्त हो चुकी है। लेकिन गुरुकुलों में अग्निकर्म एवं सन्ध्योपासना आदि क्रियाओं को अभी भी प्रतिदिन किये जाने का विधान है। आज अधिकांशत: गुरुकुलों में भोजनादि समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उपलब्ध है। प्रशासन एवं विभिन्न शिक्षण संस्थानों की ओर से निर्धन तथा मेधावी छात्र-छात्राओं को शिक्षा पूर्ण करने हेत छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

उस समय शिक्षा के क्षेत्र में गुरु और अध्यापक-ये दो श्रेणियाँ थी जबकि वर्तमान में अध्यापक, उपआचार्य, आचार्य, सहायक प्राध्यापक, सह-प्राध्यापक, प्रवाचक, प्राध्यापक आदि हैं। उस समय वेद-वेदाङ्गों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था पर अब इनके अतिरिक्त ज्ञान के अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। बालक विद्यालयी स्तर पर हिन्दी, संस्कृत, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, राजनीतिक विज्ञान, गृह-विज्ञान, गणित, अंग्रेजी आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी अभिरुचि के अनुसार विषयों का चयन करके उच्च स्तर तक शिक्षा जारी रख सकता है। ब्रह्मचारी बालक के लिए जहाँ अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्य व चन्द्र ग्रहण, मेघों की गर्जना, बाजों के कोलाहल आदि के समय वेदाध्ययन का निषेध था वहीं आज इस प्रकार की तिथियों या परिस्थितियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी अर्थोपार्जन की वृत्ति नहीं अपना सकता था पर आज का विद्यार्थी अध्ययन और अध्यापन दोनों कार्य एक साथ कर सकता है और कर भी रहा है।

एक ब्रह्मचारी को भोग-विलास, वासनाओं का त्यागकर 'ब्रह्मचर्य' का पालन करते हुए धर्म की साधना करनी होती थी लेकिन आज के युग में ब्रह्मचर्य' शब्द के अर्थ में कुछ संकोच हआ है। यह केवल अपनी कामविषयक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अनेकश: यह इससे भी अधिक संकुचित अर्थ में ग्रहण किया जाता है। तदानुसार यह अविवाहित व्यक्ति के अर्थ में आता है। जबकि ब्रह्म अर्थात् 'ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विचरण करने वाले' अर्थ के अतिरिक्त ब्रह्म अर्थात् प्रत्येक ईश्वरीय गुण से युक्त व्यक्ति को ब्रह्मचारी कहा जाता था और कामवृत्ति के अतिरिक्त क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, असत्याचरण इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों से परे रहना ही ब्रह्मचर्य था। इसके साथ ही ब्रह्मचारी के लिए मधु व मांस का भक्षण, गायन, नृत्य, हिंसा, निन्दा, स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करना आदि शास्त्र निषिद्ध कर्मों से दूर रहना तथा अपने शील की रक्षा करना, कार्य को निपुणता के साथ करना, गुरु के प्रति श्रद्धाभाव रखना, आदि आवश्यक था। अत: उसका जीवन विलासिता की आवश्यकताओं से बहुत परे होने के कारण आडम्बरहीन था, किन्तु आज के अधिकांशत: विद्यार्थी पाश्चात्य प्रभाव व अन्धानुकरण की प्रवृत्ति के कारण अनेक नशीले या मादक द्रव्यों-धूम्रपान, मद्यपान, अफीम, मतिभ्रमकारी औषधियाँ (हैलुसिनाशन), भांग, चरस, कोकीन इत्यादि का सेवन करने लगे हैं। पाश्चात्य जीवन दर्शन से प्रभावित विद्यार्थी शारीरिक एवं मानसिक आनन्द के लिए क्लब, होटल आदि में भी जाते हुए देखे जाते हैं और पथभ्रष्ट हो जाते हैं। जिससे समाज में अपराधों तथा रोगों की वृद्धि होती जा रही है। इसी कारण उनमें आज वह ओजस्विता व तेजस्विता नहीं है जोकि गुरुकुलों में रहने वाले ब्रह्मचारियों के जीवन में रहती थी। निश्चित रूप से एक विद्यार्थी को भोग-विलासिता के पदार्थों से तथा पापाचरण से सदैव दूर रहना चाहिये।

गुरु को देवता के समान माने जाने वाले आदर्श को भी आज शिक्षण संस्थानों में विस्मृत कर दिया गया है। वस्तुत: आज के विद्यार्थी में नैतिक गुणों का अभाव होता जा रहा है, क्योंकि आज का विद्यार्थी प्रारम्भ से ही उत्तेजक वातावरण में रहता है और बहुत ही शीघ्र सांसारिक भोगों का उपभोग करना आरम्भ कर देता है। गृहस्थाश्रम के आते-आते उसकी शक्तियाँ क्षीण हो चुकी होती है, परिणामस्वरूप वह पूर्णकाम नहीं हो पाता, जबकि पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में गुरुकुल शिक्षा पद्धति का बड़ा ही महत्त्व था, जिसके अन्तर्गत अनुकूल वातावरण की सहज प्राप्ति अति सहायक सिद्ध होती थी। वर्तमान युग में प्रदर्शित चल-चित्रों में कामुकता का नग्न प्रदर्शन तथा काम-वासनाओं के विषय पर केन्द्रित उपन्यासों की कथावस्तु, क्या संयमित जीवन के प्रेरणा स्रोत हो सकते हैं? कभी नहीं। यही कारण है कि आज शिक्षा के उच्च शिखर पर पहुँच जाने पर भी छात्रों में गुरु सेवा, तपश्चर्या, विनम्रता, धैर्यता आदि का अभाव मिलता है।

आज के विद्यार्थी के लिए भी गुरुकुल के समान सात्त्विक वातावरण का होना अनिवार्य है, जिसका कि हमारी इन्द्रियों पर अनुकूल प्रभाव पड़े। तामसिक वातावरण में इन्द्रियाँ उत्तेजित हो उठती हैं। हमारे आस-पास का वातावरण मित्रवर्ग, उठने-बैठने के स्थान, ग्रन्थादि इस प्रकार के हों, जो हमारे जीवन का उत्कर्ष कर सके। आज नगरों व ग्रामों में बने घरों का स्थान इतना संकुचित होता है कि न बालक उनमें सुविधापूर्वक रह सकता है और न उनमें रहकर सम्यक् रूप से अध्ययन कर सकता है। उच्चवर्ग तथा कुछ मध्यमवर्ग के छात्र-छात्राओं को छोड़कर अधिकांशत: निम्नवर्ग के छात्र-छात्राओं को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

तत्कालीन समाज में जहाँ ब्रह्मचर्याश्रम का समापन समावर्तन संस्कार से होता था वहीं आधुनिक शिक्षण-संस्थानों में भी इस संस्कार की छाप दिखाई देती है। विद्यार्थियों के द्वारा स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त जो महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों से उपाधि-पत्र दिया जाता है वही आधुनिक संस्थानों का बालक के लिए समावर्तन है। परन्तु आज गुरुकुलों तथा अन्य संस्थानों से समावर्तन के पश्चात् भी छात्र उच्च शिक्षा को प्राप्त कर तथा आजीविका ग्रहण कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। वस्तुत: बालक की शिक्षा अब स्नातक तक सीमित नहीं रह गई है। इसके अनन्तर भी वह अनेक उपाधियों को प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाने का यथासम्भव प्रयास करता है।

दूसरा आश्रम 'गृहस्थ' था। इस आश्रम में संयम परस्परार्पण, त्याग, निष्ठा और सेवा के आदर्श को प्रधानता दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि वह समाज का ऋणी है और वह समाज कल्याण की ओर अग्रसर होता था। वर्तमान युग में भी गृहस्थाश्रमी लोग सब जगह देखने को मिलते हैं, किन्तु यह अपने जिस आदर्श रूप में था वह अब नहीं रहा है। गृहस्थ के लिए जहाँ सर्वप्रथम अपने समान वर्ण वाली कन्या से विवाह कर, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने और उसे मर्यादापूर्वक भोगने का विधान था वहीं आज सवर्ण अथवा सजातीय विवाह की अनिवार्यता क्षीण होती जा रही है तथा व्यक्ति अमर्यादित भोग की ओर आकर्षित होता जा रहा है। कुछ लोग तो विवाह को समझौता मात्र समझते हैं। इसी कारण गृहों में कलह-क्लेश व विवाह-विच्छेद की समस्या देखने को मिलती है। जबकि दम्पती के परस्पर सहयोग से ही गृहस्थाश्रम सफल होता है।

मनुस्मृति में अपनी धर्मपत्नी के सहयोग से ही धर्म, अर्थ, काम एवं अन्य कर्तव्यों का समचितरूप से निर्वाह करने का निर्देश दिया गया है। इस सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में आज भी गह-प्रवेश तथा अन्य धार्मिक या मांगलिक काया म पति-पत्नी का साथ होना अनिवार्य माना गया है। आज कछ सात्त्विक जन एस ह जो अविवाहित रहकर धर्म एवं अर्थ की साधना में लगे रहते हैं और कुछ ऐसे भा ह जो इस प्रकार की जीवन-शैली व्यतीत करने का प्रपञ्च करते हुए छ रूप से

कामभोग में लिप्त रहते हैं। ऐसे लोग समाज को भ्रम में रखकर मात्र अपने स्वार्थ का पूर्ति करते हैं। आज जिस प्रकार लोग अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग के लिए प्रवृत्त दिखाई देते हैं। उनको संयमित करने के लिए शंखस्मति के उपदेश की प्रासङ्गिकता निविवाद है। अतएव व्यक्ति को धर्मानुकूल त्रिवर्ग का सेवन करना चाहिए।

उस समय समस्त आश्रमवासियों के लिए आचार के पालन को एक अनिवार्य तत्त्व माना गया था। गृहस्थादि के लिए जो भी आचार निर्धारित किये गये थे वे सभी नैतिकता से सम्बद्ध थे। जो व्यक्ति के चरित्र का निर्माण कर उसे समाज में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बनाते हैं। आचार का पालन न करने पर व्यक्ति पाप का भागी बनता है। वस्तुत: सदाचरण ही सुखी जीवन का आधार है। इसलिये गृहस्थी के जीवन में सर्वप्रथम सत्य, क्षमा, दम, पवित्रता, सेवाभाव, अहिंसा, दया आदि को अनिवार्य माना गया था, जिनका पालन आज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। उसका जीवन शान्त व धर्मयुक्त हो, वह शुद्ध आत्मा वाला हो, उसके व्यवहार में सत्यता हो, किन्तु वह अप्रिय सत्य न कहे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर्म थे, जिनका सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन नियमित रूप से करता था जिससे व्यक्ति व समाज का जीवन व्यवस्थित एवं गतिशील था, किन्तु आधुनिक समय में उन कर्मों का अभाव दिखाई देता है।

कुछ नियम व उपनियम तो ऐसे हैं जो लुप्त हो गए हैं, यथा–शौच के पश्चात् स्वच्छता के लिए मिट्टी का प्रयोग, सामान्य व धार्मिक क्रियाओं में दिशानुसार आचमन करना, छ: प्रकार के स्नानों को विधिवत् करना, सन्ध्यादि में अघमर्षण सूक्त का जप, पूर्व व पश्चिम दिशा में मुख करके गायत्री जपपूर्वक क्रमश: प्रात: व सांय दोनों कालों में उपासना करना तथा अर्घ्य व पवित्र करने वाले मंत्रों का जप करना आदि। अपवादस्वरूप आज कुछ धर्मनिष्ठ परिवार ऐसे दिखाई देते हैं। जहाँ कतिपय क्रियाओं का पालन होता है, यथा–आचमन की क्रिया। पर्वतीय प्रदेशों में भोजन तब तक नहीं परोसा जाता जब तक आचमन न कर लिया जाए।[1] ऐसा नहीं है कि ये क्रियायें पूर्णत: समाप्त हो गई हैं अपितु समय के अभाव के कारण इन क्रियाओं के सम्पन्न करने में सहायक नियम कालबाह्य हो गये हैं। आज स्मृत्युक्त कुछ कर्मों का व्यक्ति द्वारा अंशत: पालन किया जा रहा है, किन्तु इन दैनिक क्रियाओं को पूर्ण करने में सहायक सामग्री भिन्न है, यथा–शुद्धि के लिए मिट्टी के स्थान पर अनेक प्रकार के साबुन, शैम्पू, पाउडर, कन्डिशनर, माउथ वॉश या हैंड वॉश का प्रयोग, आचमन के स्थान पर सामान्यत: कुल्ला करने की प्रक्रिया, गायत्री–जप के स्थान पर अनेक देवी–देवताओं की तिमाओं की पूजा–अर्चना आदि।

गृहस्थ के लिए जिन पञ्चमहायज्ञों का अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में विवेचन किया गया है। वर्तमान समय में उनका प्रतिदिन पालन न होकर यदा–कदा आंशिक रूप से होता है। देवयज्ञ में जहाँ देवताओं के प्रति हवन का विधान था वदी जान मूर्ति–पूजा, नवद्या भक्ति के रूप में इसका अस्तित्व विद्यमान है। हवन के अनि उसे समय–समय पर दर्शपौर्णमास, पशुबन्ध आदि यज्ञों को भी सम्पादित करना होता था, पर आज के जीवन में इन सभी यज्ञों का विस्तारपर्वक अनान करना सम्भव नहीं है। भूतयज्ञ तथा पितृयज्ञ का भी अंशत: पालन दिखाई देता है। आज व्यक्ति की जीवनचर्या इतनी अधिक व्यस्त हो गई है कि वह स्वयं के भोजन के लिए कठिनाई से समय निकाल पाता है तो प्रतिदिन–प्राणियों, देवताओं और पितरों आदि को देने की तो बात ही दूर है। यदि वह कुछ समय निकाल कर इन धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करना भी चाहे तो आर्थिक समस्या के कारण नहीं कर पाता। हाँ, कुछ समृद्धजन कभी–कभी त्याग एवं दान की भावना से जीव–जन्तुओं या अन्य प्राणियों को भोजन देते हुए दिखाई देते हैं। पितृयज्ञ में जो तर्पण और श्राद्ध की क्रिया की जाती थी वह अब संक्षिप्त रूप में कुछ परम्परागत ब्राह्मण परिवारों तथा शास्त्रज्ञों में ही दिखाई देती है। तदनुसार श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण भोज तथा तर्पण आदि की क्रिया

सम्पन्न की जाती है। पी.वी. काणे के मत से सामान्यत: आजकल श्रावण मास में एक दिन ब्रह्मयज्ञ के एक अंश के रूप में अधिकांश ब्राह्मण तर्पण करते हैं। लेकिन प्रतिदिन पितरों एवं देवताओं को दिशानुसार जल, अन्न से तर्पित करने का अभी भी अभाव है।[2]ब्रह्मयज्ञ के सन्दर्भ में उनका कथन है कि वैदिकों एवं शास्त्रियों को छोड़कर ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन कोई नहीं करता। आजकल वर्ष में केवल एक बार श्रावण मास में निर्धारित एक सूत्र 'ओं भुर्भुव: स्व:' के अनुसार ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। जबकि ज्ञानवर्धन व ज्ञान की निर्मलता हेतु प्रतिदिन सद्शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य है। इसी प्रकार अतिथि सेवारूप नृयज्ञ को अति महत्त्व दिया गया था। जो आज के युग में प्रत्येक गृहस्थी के लिए आदर्श को प्रस्तुत करता है। यदि आज व्यक्ति अतिथि-सेवा-परायण हो जाए तो विश्वबन्धुत्व व समता की भावना प्रबल होगी, जिसका आज अत्यन्त अभाव दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त इन पञ्चमहायज्ञों में जो ऋणमुक्ति की भावना निहित थी वह आज भी गृहस्थ को तीन ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण) से उऋण होने का स्मरण कराती है। अतएव व्यक्ति को आज उपर्युक्त कर्मों-अग्निहोत्र, देवताओं एवं प्राणियों की सेवा, दानशीलता, उदारता, ध्यान, सद्शास्त्रों का पठन-पाठन, अतिथि- सत्कार आदि से जीवन को सफल बनाने का यथासम्भव प्रयास करना चाहिए।

मनुस्मृती में परिश्रमपूर्वक न्यायरूप धर्म के अनुसार गृहस्थ को धनोपार्जन करने का निर्देश दिया गया है। आज के भौतिकवादी युग में जहाँ सत्य की प्रतिष्ठा कम होती जा रही है वहीं व्यक्ति अधर्मपूर्वक धनोपार्जन में तनिक भी संकोच नहीं करता है। तत्कालीन समय में व्यक्ति गृहस्थी होने पर अर्थात् 25-30 वर्षों की आयु से धनार्जन आरम्भ करते हुए 50-60 वर्षों की आयु के उपरान्त धनार्जन कार्य से अवकाश लेता था। इस प्रकार अनियन्त्रित भोग पर अंकुश लगता था। परिणामस्वरूप बेरोजगारी की समस्या का समाधान होता था और मस्तिष्क पर अर्थ सञ्चय करने की चिन्ता का भार अधिक समय तक नहीं रहता था। इससे समाज में आर्थिक सन्तुलन बना रहता था, किन्तु वर्तमान युग में व्यक्ति 18-20 वर्ष की आयु से और अधिकांशत: तो इससे पूर्व बाल आयु से ही धनोपार्जन के कार्य में लग जाते हैं तथा जब तक वे शारीरिक दृष्टि से अशक्त नहीं हो जाते तब तक अर्थ सञ्चय से अवकाश ग्रहण नहीं करते। इसलिये उस समय संयम और त्याग की वृत्ति को महत्त्व दिया गया था। अतएव आज भी जीवन की उन्नति व सार्थकता के लिए संयम व त्याग की आवश्यकता है। संयम के द्वारा तो व्यक्ति की अनुभव शक्ति बढ़ती है। हर प्रकार का सामर्थ्य बढ़ता है। सार-असार का भेद करने की सूक्ष्म बुद्धि बढ़ती है या यह कहे कि इसमें ही जीवन साफल्य की पराकाष्ठा है तो अतिशयोक्ति न होगी।

वर्तमान समय में हमारे समक्ष अनेक ऐसे विद्वद्जनों के चरित्र अनुकरणीय हैं, जिनसे व्यक्ति शिक्षा ग्रहण कर जीवन को सार्थक बना सकता है, यथा-कबीर, महावीर, गौतम बुद्ध, स्वामी दयानन्द, नानक आदि। जो गृहस्थी होते हुए भी सांसारिक आसक्ति से विरक्त थे। यदि आज भी गृहस्थी निश्चयात्मक बुद्धि से सज्जनों की सङ्गति कर, श्रद्धा-विश्वास के साथ मानव-सेवा को अपना लक्ष्य बनाकर, छल-कपट की भावना का त्यागकर, ईश्वर का स्मरणकर, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का निष्ठापूर्वक पालन करे तो वह आज भी वास्तविक सुख की प्राप्ति कर सकता है।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ में प्रवेश का विधान था। वानप्रस्थी गृहस्थाश्रम के भोग-ऐश्वर्यों का त्यागकर व पारिवारिक सत्ता का हस्तांतरण करके, वन में निवास करता हुआ ईश्वर-आराधना में निमग्न रहता था। वर्तमान युग में वन में निवास करना सम्भव नहीं है, किन्तु वानप्रस्थी के लिए जो सदाचार का पालन, संसार के भ्रमजाल से दूर रहना, सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा आध्यात्म की ओर अग्रसर रहने की बात कही गई है वह आज भी निर्विवाद रूप से जीवन के तृतीय चरण में अनुकरणीय

है। हाँ, इसके लिए वन में निवास करना आवश्यक नहीं है। वृद्धजन शास्त्रकथित एक निश्चित आयु (50-60 वर्ष) के उपरान्त कुटुम्ब सेवा के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर वान- प्रस्थवत् कार्यों को कर सकते हैं। यदि वे बाहर किसी शान्त व पवित्र वातावरण में न जा सकें तो परिवार में रहते हुए भी सांसारिक पदार्थों में ममत्वभाव का त्याग, गृहस्थ जीवन की ओर प्रवृत्त करने वाले कार्यों व आहार-विहार आदि पर पूर्णरूप से नियन्त्रण, व्रत-उपवास, हवन, पूजा-पाठ, धार्मिक-ग्रन्थों का अध्ययन, ईश्वर-उपासना, ध्यानादि में मन लगा सकते हैं। आज बहुत से वृद्धजन मानसिक शांति के लिए ईश्वर-भजन, सत्संग, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों, तीर्थ-स्थानों, धार्मिक सभाओं तथा शान्त वातावरण इत्यादि में जाते दिखाई देते हैं, इसे वानप्रस्थ का आंशिक रूप माना जा सकता है, किन्तु कुछ वृद्धजन जो सांसारिक वातावरण का त्याग नहीं कर पाते और दीर्घसमय तक भोग में प्रवृत्त रहते हैं फलत: वे अनेक व्याधियों से ग्रस्त हो जाते हैं। अतएव शारीरिक स्वस्थता एवं दीर्घायुष्य के लिए गृह, धन-सम्पत्ति व रोजगार विषयक भोगवृत्ति का त्याग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त सामाजिक व राष्ट्रीय दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि वृद्धजन कुछ निश्चित समय के उपरान्त आजीविका के साधनों व उच्च पदों से निवृत्त हों। यदि वे उचित समय पर सरकारी या गैर-सरकारी पदों से विरत नहीं होते हैं तो नई पीढ़ी कार्यारम्भ करने में कठिनाई का अनुभव करती है और उन्हें आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ता है। इसलिये नवयुवकों को कार्य का समुचित अवसर प्रदान करने के लिए इनका निश्चित आयु में सेवा-निवृत्त होना आवश्यक है। सरकार की ओर से ऐसे वृद्ध कार्यकर्ताओं के लिए "वृद्धावस्था पेंशन" की व्यवस्था की गई है फिर भी अधिकांशत: लोग अन्तिम समय तक धनार्जन करने में लगे रहते हैं। सम्भवत: ये लोग अपनी वृद्धावस्था की सुरक्षा की दष्टि से ऐसा करते हैं। आज समाज में देखने को मिलता है कि नई पीढ़ी तब तक उनकी सेवा करती है जब तक उनके पास धन-सम्पत्ति है अन्यथा उन्हें भाररूप समझती है।

उस समय समाज-सेवा वानप्रस्थी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। वह वन में रहकर अपने ज्ञान का विस्तार करने के साथ-साथ अपने ज्ञान को वितरित भी करता था अर्थात् वह शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया करता था उनका यह कार्य राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता था। इससे एक ओर राष्ट्र में नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था होती थी तो दूसरी ओर परिवार व नगरों में भीड़-भाड़ (Crowded) कम रहती थी और परिवार के ऊपर निवास व आर्थिक समस्याओं की सम्भावना कम रहती थी। आज के युग में जहाँ वानप्रस्थ समाप्त हो चुका है वहीं शिक्षा-पद्धति परिवर्तित होने से बहुमूल्यवान् हो गई है, जिसके कारण सामान्य वर्ग के परिवारों पर आर्थिक भार बना रहता है। ऐसे में पेंशनधारक या सेवा-निवृत्त परिपक्व बुद्धि वाले वृद्धजन नि:शुल्क शिक्षा या सेवा संस्थाओं को चलाकर नई पीढ़ी तथा अन्य जनों को सदोपदेश देकर उनका मार्ग प्रशस्त तथा समाज-कल्याण के कार्यों में अपना सहयोग दे सकते हैं।

यदि वृद्धजनों की स्थिति के विषय में विचार करें तो तत्कालीन समय की अपेक्षा उनकी स्थिति में कमी आई है। उस समय वृद्धजनों का जीवन परिवार या वानप्रस्थाश्रम में रहकर अधिक सहजता से व्यतीत होता था। वर्तमान समय में वानप्रस्थाश्रम का प्रचलन न रहने से वे परिवार के मध्य रहकर जो जीवन व्यतीत कर रहे हैं वह उतना सुखद नहीं रहा है जितना होना चाहिये। आज व्यस्तता के कारण किसी के पास किसी के लिए समय नहीं है, कोई किसी के लिए कुछ त्याग नहीं करना चाहता। ऐसे परिवारों में वृद्धजनों के लिए स्थान दिनोंदिन सीमित होता जा रहा है। बदलती पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों के साथ नई पीढ़ी में नैतिक मूल्यहीनता और स्वतंत्रता के स्थान पर स्वच्छंदता की चाह-ये इसके प्रमुख कारण हैं। आज नगरों, शहरों, गाँवों में प्राय: देखने को मिलता है कि बहुत से बच्चे अपने वृद्ध माता-पिता के साथ रहना नहीं

चाहते। ऐसे में कुछ वृद्धजन जीवन के सूनेपन, अकेलेपन से क्षुब्ध, व्याधि, आर्थिक असुरक्षा व अशक्तता, उस पर अपमान और अवसाद से घिरे, भार बनने के अहसास से दु:खी होकर या तो स्वयं घर से चले जाते हैं या उन्हें इसके लिए विवश कर दिया जाता है कि जैसे भी हो, अपने लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था कर ले। इन परिस्थितियों में वृद्धजन घर से बाहर किसी वृद्धाश्रम, आर्य समाज जैसी संस्थाओं या तीर्थ-स्थानों में जीवन व्यतीत करते हैं। जो उनके लिए अपमानजनक स्थिति या घोर पीड़ादायक अभिशाप जैसा है।

ऐसे अनेकों आश्रम हैं जहाँ हजारों वृद्धजन जीवन व्यतीत कर रहे हैं[3] -

- सन्ध्या सीनियर सिटिजन्स होम, नेताजी नगर, न्यू दिल्ली-110023
- आराधना सीनियर सिटिजन्स होम (केवल महिला), भगवान दास लैन, न्यू दिल्ली-110001
- वरदान सीनियर सिटिजन होम, मालवीय नगर, न्यू दिल्ली-110017
- गोधुलि-सीनियर सिटिजन होम, सैक्टर-2, द्वारका, न्यू दिल्ली-110075
- आर्य महिला आश्रम, दुर्गा कॉलोनी, न्यू राजेन्द्र नगर, न्यू दिल्ली-110060
- साई सहारा ओल्ड एज होम, तोडापुर गाँव, न्यू दिल्ली-110012
- गुरु विश्राम वृद्ध आश्रम, कालकाजी, न्यू दिल्ली-110017
- दर्शन विश्राम वृद्ध आश्रम, इन्दिरा विकास कॉलोनी, दिल्ली-110009
- श्री गीता वृद्ध आश्रम, न्यू राजेन्द्र नगर, न्यू दिल्ली-110060
- आनन्द धाम एण्ड वृद्ध आश्रम, नजफगढ़ रोड़, नांगलोई-110041
- ओल्ड एज होम, कालकाजी, दिल्ली-110019
- ओल्ड एज होम, हरिजन कॉलोनी, तिलक विहार, न्यू दिल्ली-110018
- शिव आश्रय सीनियर सिटिजन एण्ड ओल्ड एज होम, सैक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली-110085
- मन्वायतन (ओल्ड एज होम), सैक्टर-37, नौएडा, उत्तर प्रदेश-201303
- आनन्द निकेतन वृद्ध सेवा आश्रम, सैक्टर-55, नौएडा, उत्तर प्रदेश-201305
- समर्पण, वरिष्ठ जन परिसर, आदिल नगर, लखनऊ (न्चा)
- सुक्रित वृद्धवास-ओल्ड एज होम, एन.आई.टी., फरीदाबाद (हरियाणा)
- चिरंजीव कर्म भूमि, पालम विहार, गुड़गाँव (हरियाणा)
- होप सीनियर सिटिजन्स होम सोसायटी, न्यू पालम विहार, फेस-ए, गुड़गाँव (हरियाणा)-122017
- मोक्ष वृद्ध आश्रम, केमरी रोड़, हिसार (हरियाणा)-125001
- कस्तूरबा गाँधी वृद्ध आश्रम, हिसार रोड़, सिरसा (हरियाणा)-125005
- श्री रामकृष्णा सत्यानन्द आश्रम, देशबन्धु रोड़, आलमबाजार, कलकत्ता-700035
- आनन्द आश्रम, एस.आर. दास रोड़, कालीघाट, कलकत्ता-700026

- भोलानन्दा वृद्ध आश्रम, मिडल रोड़, बाररैक–पोरे, कलकत्ता–700120
- महिला सेवा समिति, गवर्नमेन्ट प्लेस नॉर्थ, कलकत्ता–700062
- कुन्दनलाल भल्ला चेरिटेबल ट्रस्ट, ओल्ड एज होम, रायपुर रोड़, देहरादून
- लाला जगत नारैन वृद्ध आश्रम, गीता कुटीर तपोवन, हरिद्वार–249410
- प्रेम धाम, नेहरू रोड़, देहरादून
- वृद्धा सेवा आश्रम, भारत सदन, साधुबेला सप्त सरोवर रोड़, हरिद्वार–249410
- निष्काम सेवा आश्रम, दाद गाँव, पखोवाल रोड़, लुधियाना,
- पंजाब–142022 भाई वीर संघ वृद्ध घर, जन्डिअला रोड़, तारन तारान, अमृतसर–143410
- वृद्धाश्रम, जलालबाद रोड़, मुक्तसर, पंजाब–152026
- शहीद बाबा तेग सिंह सेवा सोसायटी, वृद्ध आश्रम, चंद पुरान, मोघ, पंजाब– 142038
- ओल्ड एज होम, थली तहसील–छुरला, चम्बा (जिला), हिमाचल प्रदेश
- होम फॉर दि एज्ड, गर्ली, कांगड़ा (जिला), हिमाचल प्रदेश
- एच.पी. स्टेट वेल्फेयर बोर्ड, ओल्ड एज होम, बसन्तपुर, शिमला (जिला)
- एच.पी. स्टेट सोशल वेल्फेयर बोर्ड, शिमला
- आनन्द–धाम हनुमान जी टेम्पल, लम्भ्वेल, आनन्द, गुजरात–388310
- महिला वृद्धाश्रम, श्री आनन्दभव सेवा संस्था संचालित, लिम्बा लैन, शारदा मन्दिर हाई स्कूल, जमनगर, गुजरात–361001
- मानव सेवा ट्रस्ट (वानप्रस्थाश्रम), वल्सद, गुजरात–396020
- अन्ध वृद्धाश्रम, स्वामी विवेकानन्द, हाईवे ग्राउंड, जूनागढ़, गुजरात–362001
- साई स्नेहधाम वृद्धाश्रम, तुम्कुर रोड़, बंगलौर–560123
- गंगाधाम वृद्धाश्रम, सावर गाँव, मुल्शी, पूना–411057 आदि।

वस्तुत: आज वानप्रस्थ का स्थान विभिन्न वृद्धाश्रम संस्थाओं ने ले लिया है। इन सस्थाओं के अतिरिक्त वृन्दावन में लगभग पन्द्रह हजार वृद्धाएँ रह रही हैं।[4]वतमान में वृद्धाश्रम जैसी संस्थागत व्यवस्था भारतीय संस्कार के अनुकूल नहीं ह फिर भी सामाजिक परिस्थितियाँ हमें इस ओर ले जा रही है। इन वैकल्पिक व्यवस्थाओं को मात्र विवशता की स्थिति में अपनाया जाना चाहिए। वृद्धावस्था का सुखद–दु:खद होना बहुत कुछ वृद्धजनों के चिन्तन, सक्रियता और नई पीढ़ी के सहयोग पर निर्भर करता है। वद्धजनों को सही दिशा में चिन्तन के लिए प्रेरित और उन्हें अवसादजनित बीमारियों से बचाने के लिए सार्थक दिशा देने की आवश्यकता है। साथ ही नई पीढ़ी को यह अहसास कराने की भी कि वृद्धजन भाररूप नहीं आशीर्वाद होते हैं। उनके आशीर्वाद से ही हमारा भविष्य उज्ज्वल बनता है।

चतुर्थ आश्रम 'संन्यास' था। प्रत्येक द्विज के लिए वानप्रस्थ के उपरान्त इस आश्रम में प्रवेश करना आवश्यक था। वह संसार से पूर्णत: विरक्त होकर ईश्वर-प्राप्ति व मोक्ष-सिद्धि हेतु साधना करता था। वर्तमान समय में संन्यास का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि संन्यास का जो अर्थ था-'सम्यक् न्यास' अर्थात् काम्य कर्मों का त्याग 'संन्यास' और कर्मफल के प्रति आसक्ति न रखने वाला 'संन्यासी' था। वह अर्थ अब रूढ़िगत हो गया है। आज मोक्ष अर्थात् छुटकारा, संन्यासी अर्थात् जीवनकलहरूपी सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने वाला और उसका मोक्ष, फिर से इनमें बन्धित न हो, ऐसा लोग समझते हैं। इसके साथ ही लोगों के मन में त्याग और संयम जैसे शब्दों के प्रति भी घुणा उत्पन्न हुई है। इसलिये आज तत्कालीन समाज की अपेक्षा संन्यासी कम पाये जाते हैं। जो हैं उनमें संन्यासी, साधु, भिक्षु,सन्त, महन्त, महात्मा, बाबा, वैरागी, गद्दीपति और आध्यात्मिक गुरु सब आ जाते हैं। पी.वी. काणे के मत से आज जो सन्त-महात्मा या संन्यासी बनते हैं उन्हें आधुनिक हिन्दू कानून के अनुसार परिवार, सम्पत्ति व वसीयत से विच्छेद करना होता है और गेरुए वस्त्र को चिह्न मात्र के रूप में धारण कर, अपेक्षित कृत्य भी सम्पादित करने होते हैं। संन्यासी की मृत्यु के पश्चात उसके वस्त्र, खाड़ाम्, ग्रन्थादि उसके परिवार वालों को नहीं प्रत्युत उसके शिष्यों को दे दिये जाते हैं।[5]

तत्कालीन समय में संन्यासी समाज से विलग एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करता था। वर्तमान में अधिकतर साधु, संन्यासी समूह में, कुछ सम्प्रदाय के अनुसार तो कुछ गिरि कन्दराओं में समाधि लगाकर रह रहे हैं। आज जो भी संन्यासियों के अखाड़े (साधुओं की साम्प्रदायिक मण्डली) और उपसम्प्रदाय उपलब्ध होते हैं वे वैचारिक भिन्नता व व्यवहारिकता का परिणाम है। यद्यपि इनकी निश्चित गणना कर पाना दुष्कर कार्य है तथापि प्राप्त अखाड़ों व उपसम्प्रदायों का वर्णन निम्न है[6]

अखाड़े : साधुओं की साम्प्रदायिक मण्डली को अखाड़ा कहा जाता है। अखाड़ों का उद्देश्य शास्त्र पठन, आध्यात्मिक चिन्तन एवं मनन के साथ धर्म का प्रचार, सन्त सेवा व जनता की सेवा करना है। प्रारम्भ में इन अखाड़ों में महिलाओं के लिए स्थान नहीं था, किन्तु अब महिलायें भी संन्यास ले, इनमें रह सकती हैं। फिर भी पुरुष वर्ग की संख्या ही अधिक है। कुछ प्रमुख अखाड़े इस प्रकार हैं

निरंजनी अखाड़ा : यह अखाड़ा सन् 904 में गुजरात में स्थित मांडवी स्थान में स्थापित किया गया। इस अखाड़े के संन्यासी देवताओं के सेनापति कार्तिकेय को अपना इष्टदेव मानते हैं। ये लोग शैव हैं तथा जटा धारण करते हैं।

निर्वाणी अखाड़ा : इस अखाड़े के केन्द्र प्रयाग, कनखल, ओंकार, काशी, त्रयंबक, कुरुक्षेत्र, उज्जैन, उदयपुर में हैं। उज्जैन के महाकाल मन्दिर में भस्म चढ़ाने वाले महन्त इस अखाड़े से सम्बन्धित हैं।

महानिर्वाणी अखाड़ा : इस अखाड़े की स्थापना के विषय में मतभेद है। जो निर्वाणी अखाड़े की ही एक शाखा मानी जाती है। यह अखाड़ा दारागंज (प्रयाग) में है। इसका केन्द्र कनखल तथा खाण्डवा में है। ये लोग नागा शैव है और जटा रखते हैं।

आवाह्न अखाड़ा : यह अखाड़ा सन् 547 में स्थापित किया गया। इसकी शाखा काशी में है। श्री गणेश जी तथा दतात्रेय (जोकि रुद्रावतार है) इस अखाड़े के इष्टदेव हैं।

अटल अखाड़ा : अटल अखाड़ा सन् 647 में गोण्डवाना में बना था। इसके केन्द्र काशी, बड़ौदा, हरिद्वार, त्रयंबक, उज्जैन में स्थित हैं। इष्टदेव श्री गणेश जी है ।

आनन्द अखाड़ा : इसकी स्थापना विक्रम संवत् 856 में बरार में हुई थी। इसके इष्टदेव सूर्य है।

अग्नि अखाड़ा : सन् 1957 में इस अखाड़े की स्थापना हुई। गिरनार की पहाड़ी पर इसका केन्द्र है।

श्री पञ्च अग्नि अखाड़ा : यह अखाड़ा विक्रम संवत् 1192 में काशी में बना। राजघाट, काशी, नया महादेव मौहल्ले में इसके केन्द्र हैं। इष्ट देवी गायत्री माता एवं अग्नि हैं। इस अखाड़े में अब संन्यासी नागे न रहकर कर्मकाण्डी नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते हैं।

उपसम्प्रदाय : अखाड़ों के अतिरिक्त संन्यासियों के कुछ उपसम्प्रदाय भी हैं जो अपनी वेश-भूषा, रहन-सहन या पूजा करने की पद्धति के कारण भिन्न प्रकार के हैं। कुछ उपसम्प्रदाय निम्नलिखित हैं

दण्डी : इस सम्प्रदाय के साधु यात्रा के समय दण्ड और कमण्डल अपने साथ रखते हैं। ये न किसी धातु की वस्तु एवं न अग्नि को स्पर्श करते हैं।

परमहंस : ये दो प्रकार के हैं-दण्डी परमहंस और अवधूत परमहंस । दण्ड को साथ रखने वाले साधु 'दण्डी' और अन्य अवधूत कहे जाते हैं।

दशनामी नागा : ये तीन प्रकार की जटा को धारण करते हैं-नागा जटा, शम्भु जटा और बारबन। रस्सी के समान गुंथी हुई व साँप की आकृति वाली 'नागा जटा' है तथा 'शम्भु जटा' का छोटा रूप 'बारबन' है।

अलेखिया : इस सम्प्रदाय के संन्यासी चाँदी, पीतल या ताँबे से निर्मित कुछ विशेष प्रकार के आभूषणों-गिरनार, चल, तोरा, छल्ला आदि को धारण करते हैं। ये भिक्षा माँगते समय भिन्न प्रकार का केलका' व 'मातंगा' नामक वस्त्र धारण करते हैं। साथ ही लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अपनी कमर पर छोटी घंटिया बांधते हैं। इनमें जो काला भिक्षापात्र रखते हैं वे अर्धरात्रि में भिक्षा मांगते हैं।

डंगलि : ये संन्यासी भिक्षा न मांगकर, व्यापार करते हैं और प्राप्त धन से संन्यासियों के लिए भोजन की व्यवस्था करते हैं।

अघोरी : अघोरी अन्य संन्यासियों की अपेक्षा भिन्न हैं। जो समदृष्टि तत्त्व का अभ्यास करते हैं। शुभ व अशुभ वस्तुओं में भेद नहीं करते। भिक्षापात्र के रूप में मानव मुंड रखते हैं तथा शिव एवं शक्ति की उपासना करते हैं।

उर्ध्व बाहु : कुछ संन्यासी अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिए एक या दोनों हाथों को ऊपर उठाकर रखने की शपथ लेते हैं।

आकाशमुखी : जो अपने मुख को आकाश की ओर उठाये रखने की शपथ लेते हैं।

नखी : इस प्रकार के संन्यासी अपने नखों को न काटने की शपथ लेते हैं।

थारेश्वरी : ऐसे संन्यासी दिन और रात खड़े रहने का संकल्प लेते हैं। ये खड़े रहकर ही भोजन तथा शयन करते हैं।

उर्ध्वमुखी : जो अपने पैरों को किसी वृक्ष की शाखा से बांधकर सिर को नीचे की ओर लटकाते हैं। अत: ये संन्यासी अत्यन्त कठिन तपस्या करते हैं।

पंचधुनी : पंचधुनी संन्यासी चारों दिशाओं में अग्नि को प्रज्वलित कर, उसके मध्य में स्थित होकर तपते हैं।

मौनव्रती : ये मौनव्रत रखने की शपथ लेकर ईश्वर का मानस जप करते हैं।

जलसाजीवी : इस प्रकार के संन्यासी प्रात: से सन्ध्या तक जल में खड़े रहने का संकल्प कर, उसमें ही खड़े होकर तप करते हैं।

जलधारा तपसी : ऐसे संन्यासी गड्डा खोदकर उसमें बैठते हैं। ऊपर छेद वाला एक घड़ा रखते हैं जिसमें से जल उनके ऊपर गिरता रहता है।

करलिंगी : जितेन्द्रिय समझे जाने वाले ये संन्यासी निरवस्त्र (नग्न) रहने का व्रत लेते हैं।

फलाहारी : फलाहारी अन्न न खाने की शपथ लेकर केवलमात्र फलों से जीवन-निर्वाह करते हैं।

दूधारी : जो आहार के रूप में मात्र दूध पर निर्भर रहते हैं। अलूना : ये संन्यासी बिना नमक का भोजन खाते व ग्रहण करते हैं।

गूदड़ : ऐसे संन्यासी 'केलका' नामक एक प्रकार का वस्त्र धारण करते हैं। एक कान में छल्ला तथा दूसरे में ताँबे से निर्मित वस्तु को पहनते हैं। भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तु का प्रयोग करते हैं। किसी मृत संन्यासी का दाह संस्कार करना इनका कर्तव्य है। ये लोग मृत संन्यासियों की वस्तुएँ ले लेते हैं।

सुखर : इस प्रकार के संन्यासी भिक्षा के लिए नारियल से बने खप्पर का प्रयोग करते हैं और भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तुएँ जलाते हैं। इनके अन्य कर्त्तव्य गूदड़ संन्यासियों के समान हैं।

शंखस्मृति में वर्णित भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व कुखर : कुखर संन्यासी नये पात्र में ही भिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पकाते हैं। भूखर : जो भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तुएँ नहीं जलाते हैं।

अवधूतनी : ऐसी संन्यासिन स्त्रियाँ जो माला धारण करती हैं। माथे पर शैव चिह्न अंकित करती हैं। तीर्थ यात्रा पर जाती हैं तथा भिक्षा से जीवन-निर्वाह करती

घरबारी : इस प्रकार के संन्यासी अपने परिवार के साथ रहते हैं। ये अपने को संन्यासी कहते हैं।

टिकरनाथ : ये भैरव की पूजा करते हैं और टिकरा अर्थात् मिट्टी का बना पात्र प्रयोग करते हैं।

त्यागी : त्यागी संन्यासी बिना मांगे जो मिल जाए उसी से जीवनयापन करते हैं। यदि वस्त्र मिल जाए तो पहन लेते हैं अन्यथा निरवस्त्र रहते हैं।

मानस : जो घर का त्यागकर, साधु का जीवन व्यतीत करता है।

अन्त संन्यासी : ऐसा संन्यासी जो एक स्थान पर बैठकर तब तक उपवास करता है और ईश्वर के ध्यान में लीन रहता है जब तक उसकी मृत्यु न हो जाये।

क्षेत्र संन्यासी : जब कोई व्यक्ति संन्यासी जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेकर, मृत्यु तक किसी पवित्र स्थान पर रहता है।

भोपा : जो भैरव की पूजा करते हैं। इनके केश लम्बे होते हैं। भिक्षा के समय अपनी कमर या पैर में घंटियाँ बाँधते हैं, नाचते हैं तथा भैरव की स्तुति में गीत गाते हैं।

चन्द्रवत : चन्द्रवत संन्यासी घरेलू भिखारी होते हैं। ये अपने साथ गाय, बकरी, बन्दर आदि रखते हैं और कभी-कभी जादू के खेल द्वारा धनार्जित करते हैं।

इस प्रकार प्राचीन समय से चले आये विभिन्न आश्रम व अखाड़ों में समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहे और अनेक उपसम्प्रदायों का जन्म हुआ।

उस समय मन, वचन, कर्म की पवित्रता, सुख-दु:ख लाभ-हानि आदि सभी में समत्वभाव रखना, भिक्षा से प्राप्त भोजन से निर्वाह करना तथा योग में निमग्न रहना संन्यासी का धर्म था। वर्तमान समय में इस प्रकार के संन्यासी विरले ही दिखाई देते हैं। आज कुछ सन्त, महात्मा को छोड़कर अन्य संन्यासी जन पाखण्डी हो गये हैं। वे देखने में तो विरक्त हैं, किन्तु स्त्री, धन आदि सभी का परिग्रह करते हैं अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-सुख, भोगों का अनुगमन करते हैं। लेकिन जो स्वयं श्रेष्ठ आचरण नहीं कर पाते वे समाज को सही मार्गदर्शन कैसे दे पाएंगे। जबकि संन्यासाश्रम आत्मा के स्वरूप को समझने और उससे संलग्न हुए मल-विक्षेपों के अज्ञान आवरणों के अनर्थ को जानने के लिए आत्म-चिन्तन की आवश्यकता को अभिव्यक्त करता था, जिससे सांसारिक प्रगति, समृद्धि एवं सुसम्बन्धों की अभिवृद्धि हो सके, किन्तु भौतिक युग में तो आध्यात्मिक प्रगति हो या न हो, लौकिक जीवन अवश्य सुखमय होना चाहिये, मानो ऐसा उद्देश्य जीवन का बन गया है। वस्तुत: जिस उन्नत मार्ग पर अग्रसर होने के लिए संन्यास मार्ग का अनुसरण किया गया था उसे आज के अधिकांश संन्यासी प्राय: विस्मृत कर चुके हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि देहभाव में निमग्न हो जाने के कारण उनकी क्रियायें, चेष्टायें एवं आकांक्षायें भी निम्न श्रेणी की हो जाती है। इसलिये आज जो भी साधु, सन्त, संन्यासी हैं उन्हें संन्यस्त मार्ग की गरिमा को बनाये रखने के लिए संसार में प्रतिष्ठा अथवा लाभ, धन से भोग या पुत्रादि के मोह से पृथक् होकर मोक्ष के साधनों में तत्पर रहना, प्राणिमात्र में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखते हुए व स्थिर बुद्धि वाले एवं मननशील होकर परमेश्वर का चिन्तन करना, दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करते हुए, आनन्द एवं दु:ख में समभाव रखते हुए योग अर्थात् प्राणायाम से दोषों को, धारणा से अन्त:करण के मैल को, ध्यान से अज्ञान, पक्षपात आदि दोषों को छुड़ाते हुए प्राणिमात्र और समाज के कल्याण में लगा रहना चाहिये। वस्तुत: उनका उदासीन भाव भौतिक पदार्थों के प्रति होना चाहिए न कि समाज के श्रेष्ठ कर्मों के प्रति । राष्ट्रहित को दृष्टि में रखते हुए ही जीवन-निर्वाह करना आज की परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक है। जो संन्यासी मानवमात्र के कल्याण में तथा मानवीय एकता के कार्य में संलग्न रहता हो, वही संन्यासी श्रेष्ठतम है। उसको धर्म-अधर्म के भेद पर प्रकाश डालते हुए समाज को सही दिशा दिखानी चाहिये।

यदि संन्यासी से इतर सामान्य व्यक्तियों की बात करें, जो संन्यास नहीं लेते तो उनके लिए भी अपनी अन्तिम वय में सभी पदार्थों के प्रति मोह का त्याग, सभी प्राणियों पर दया तथा क्रोध, असत्य आदि से दूर रहकर ब्रह्म-चिन्तन व समाज की सेवा करते रहना आवश्यक है। साथ ही उन्हें वैराग्यभाव को इतना बढ़ाना चाहिये कि जीवन के अन्तिम समय में किसी प्रकार की आकांक्षा शेष न रहें और बिना किसी भय तथा दु:ख के देह छोड़ी जा सके।

आश्रमव्यवस्था के समग्र विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में जहाँ इसे एक आदर्श एवं संतुलित जीवन पद्धति के रूप में अपनाया गया था वहीं आज व्यवहारिक रूप में इसका प्रचलन नाममात्र का रह गया है।

हाँ, वर्तमान समाज में अब प्रारम्भिक कक्षा से स्नातकोत्तर या उसके आगे तक का शिक्षण, अट्ठारह से पच्चीस वर्ष की आयु में विवाह का निर्धारण, कार्यक्षेत्र से सेवानिवृत्ति, कुछ लोगों का विवाह से पूर्व या विवाह के उपरान्त साधु, सन्त या संन्यासी बनना आदि को आश्रमव्यवस्था का ही आंशिक रूप माना जा सकता है। यद्यपि काल परिवर्तन के साथ उनमें से कुछ विषयों का यथोचित निर्वाह कर पाना सम्भव नहीं है तथापि अधिकांश विषय किसी-न-किसी रूप में अपनी प्रासङ्गिकता रखते हैं।

श्राद्ध विधान

भारतीय हिन्दू समाज में वर्णाश्रम, संस्कारादि सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं के समान श्राद्धकर्म को भी मानव जीवन के अभ्युत्थान का हेतु माना गया था। व्यक्ति यदि देव, ऋषि, पितृकार्यों में देवकार्य विस्तार से न कर सके तो उससे व्यक्ति की आगामी उन्नति रुकती है, पतन नहीं होता, लेकिन पितृकार्यों का अनुष्ठान न करने पर पतन की पूर्ण सम्भावना हो जाती है। जबकि अपने कुल–वंशजों के द्वारा श्राद्धीय–पदार्थों से संतृप्त किये जाने पर पितरगण अपनी वंशसन्तति को अविच्छिन्न रखते हैं और उनका कल्याण करते हैं, ऐसा धर्मग्रन्थों में निर्देशित किया गया है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा श्रद्धापूर्वक अपने पितरगणों का स्मरण, उनको जल–अन्न देना तथा पिण्डदान करना अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया था, जिसकी स्वीकार्यता आज भी यथावत् बनी हुई है।

श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

'श्राद्ध' शब्द 'श्रद्धा' से निष्पन्न हुआ है।[7]श्रद्धा में विश्वास या निष्ठा का भाव समाहित है।[8] देवल ने 'श्रद्धा' को परिभाषित करते हुए कहा है कि–'धार्मिक–कृत्यों में जो प्रत्यय या विश्वास होता है, वही श्रद्धा है, जिसे प्रत्यय नहीं है उसे धार्मिक कर्म करने का प्रयोजन नहीं है।[9] वस्तुत: श्राद्धकृत्य में श्रद्धा मूल होने के कारण ही इसका नाम श्राद्ध पड़ा। कहा भी गया है–'श्रद्धया दीयते यस्माच्छाद्धं तेन निगटाते[10] अर्थात् दिवंगत पितरों के निमित्त जो कर्म श्रद्धापूर्वक किया जाता है, उसे श्राद्ध' कहते हैं। मिताक्षरा ने श्राद्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है–'पितरों को उद्देश्य करके (उनके कल्याण के लिए) श्रद्धापूर्वक किसी वस्तु या उनसे सम्बन्धित किसी द्रव्य का त्याग श्राद्ध है[11]। बृहत्पराशरस्मृति में उल्लिखित है कि–'जो कुछ उचित स्थान, काल एवं पात्र के अनुसार शास्त्रानुमोदित विधि द्वारा पितरों को लक्ष्य करके श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न, तिल, कुश तथा मन्त्रादि का त्याग–दान किया जाता है, वह श्राद्ध कहलाता है।[12] कुछ अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध को इसी प्रकार परिभाषित किया है। साथ ही उन्होंने पितरों को उद्देश्य करके श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जाता है उसको भी सम्मिलित किया है।[13] वस्तुत: इसमें श्राद्धकर्ता का न केवल विश्वास, प्रत्युत अटल धारणा थी कि मृत पितरों के कल्याण के लिए ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जाता है, वह उन्हें किसी प्रकार अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार श्राद्ध वह प्रक्रिया है जो मृत–पूर्वजों के प्रति विश्वास या आदर के द्वारा संचालित होती है।

श्राद्ध की प्राचीनता

वैदिक साहित्य में कठोपनिषद्[14] को छोड़कर 'श्राद्ध' शब्द प्राप्त नहीं होता, किन्तु पितर विषयक कतिपय विश्वास प्रकट किये गये हैं, जो वैदिककाल से ही श्राद्ध की विद्यमानता को स्पष्ट करते हैं। ऋग्वैदिक मन्त्रों से ज्ञात होता है कि शरीर के दाह के उपरान्त मृतात्मा को वायव्य शरीर प्राप्त होता है और वह मनुष्यों को एकत्र करने वाले यम एवं पितरों के साथ पितृलोक में चला जाता है[15] और अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह उसे सत् कर्म करने वाले पितरों एवं विष्णु के पादन्यास (विक्रम) की ओर ले जाये।[16] इसके साथ ही पितरगणों को विभिन्न दैवी शक्तियों से युक्त माना गया है। उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, उन्हें श्रद्धापूर्वक आहुतियों, प्रार्थनाओं, मन्त्रों के आह्वान आदि के माध्यम से बुलाया जाता था। ऋग्वेद में पितरों से सुमति एवं सौमनस (अनुग्रह) प्राप्त करने की बात कही गयी है। उनसे कष्टरहित आनन्द देने एवं यजमान (यज्ञकर्ता) तथा उसके पुत्र को सम्पत्ति देने के लिए प्रार्थना की गयी है।[17]मृत–जो पितृलोक को गये हैं, वे दिव्य–शक्ति–सम्पन्न होने के कारण पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि सब जगह रह सकते हैं। सम्भवत: इसी कारण अथर्ववेद में पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं धुलोक में

रहने वाले पितरों के लिए स्वधा (अन्नदान) देने को कहा गया है[18]। इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि 'जो पितर गाड़े गये हैं, जो परोप्ता अर्थात् अरण्य में फेंके गये हैं, जो जलाये गये हैं और जो ऊपर वृक्ष आदि पर रखे गये हैं उन सबको हे अग्नि ! तुम हवि भोजन करने को ले आओ। इसमें श्राद्ध की अनिवार्यता को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि–'हम श्रद्धापूर्वक पिता के पिता एवं पितामह की जो बृहत् मध्यम लोक (यमलोक, जहाँ मृतात्मा एकत्र होते हैं), पृथिवी एवं स्वर्ग में रहते हैं, पूजा करें।[19] इन मन्त्रों में प्रयुक्त 'पितृ' शब्द मृत पितरों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में 'पितर:' शब्द सामान्यत: व्यक्ति के समीपवर्ती पिता, पितामह एवं प्रपितामह–इन मृत पुरुष पूर्वजों के लिए प्रयोग होता रहा है। शतपथब्राह्मण में पिता, पितामह एवं प्रपितामह को पुरोडाश (रोटी) देते समय के सूक्तों का उल्लेख किया है और कहा है कि कर्ता इन शब्दों को कहता है–'हे पितरगण, यहाँ आकर आनन्द लो, बैलों के समान अपने–अपने भाग पर स्वयं आओ'।[20] साथ ही इसमें तीन पूर्व पुरुषों को स्वधाप्रेमी भी कहा गया है।[21]

वैदिक साहित्य के उपरान्त 'श्राद्ध' शब्द के अन्य प्रयोग सूत्र एवं स्मृति साहित्य में उपलब्ध होते हैं। जहाँ धर्मशास्त्रकारों ने श्राद्ध की महत्ता एवं उससे उत्पन्न कल्याण की प्रशंसा का विस्तृत वर्णन किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र का कथन है कि–'प्राचीनकाल में मनुष्य एवं देवता इस लोक में एक साथ ही रहते थे। देवताओं ने अपने उत्तम कर्मों (यज्ञादि) के प्रभाव से अर्थात् श्रौत, स्मार्त और गृह्य कर्मों के यथावत् अनुष्ठान से स्वर्ग को प्राप्त किया और मनुष्य वैसा करने में असमर्थ होने से इसी लोक में रह गये। जो मनुष्य देवताओं के समान यज्ञ करते हैं वे मरणोपरान्त देवताओं तथा ब्रह्मा के साथ स्वर्ग में निवास करते हैं। मनुष्यों की इस प्रकार की अवस्था को देखकर मनु ने 'श्राद्ध' नामक कर्म का आरम्भ किया, जो मनुष्य को श्रेय (मुक्ति या आनन्द) की ओर ले जाता है। इस कर्म में पितरगण देवता होते हैं तथा आमन्त्रित जिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है वह आह्वनीय अग्नि (जिसमें यज्ञों के समय आहुतियाँ दी जाती है) के प्रतीक माने जाते हैं।[22]बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार पितरगण पक्षियों के रूप में विचरण करते हैं।[23] मनुस्मृति में पितरों की सन्तुष्टि हेतु श्राद्ध पर बल देते हुए कहा गया है कि– 'श्रद्धायुक्त मनुष्य शास्त्रोक्त विधि से जो–जो अन्न देता है अर्थात् श्राद्ध करता है, वह–वह परलोक में पितरों के लिए तृप्तिकारक होता है।[24] इसके अतिरिक्त उल्लिखित है कि–'पिता, पितामह एवं प्रपितामह क्रम से वसु, रुद्र एवं आदित्य देवता के समानरूप हैं। जो श्राद्ध के समय वर्णित नाम, गोत्र, उच्चरित मंत्र एवं श्रद्धा आहुतियों (वह भोजन, जिसे श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण खाता है या जो अग्नि में डाला जाता है) को पितरों के पास ले जाते हैं और उन्हें सन्तुष्ट करते हैं[25]। शंखस्मृति में तो पितरों के प्रति श्रद्धापूर्वक किये गये श्राद्ध को समस्त प्रकार के कल्याण का हेतु बतलाया गया है[26]। इस प्रकार आरम्भिक काल में पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए जो प्रार्थनाएँ या आहुतियाँ दी जाती थी, वे ही कालान्तर में श्रद्धा एवं स्मरण चिह्नों के रूप में प्रचलित हो गये और इन्हीं ने 'श्राद्ध' का रूप ले लिया।

श्राद्ध का प्रयोजन एवं महत्त्व

वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि आरम्भिक समय से ही श्राद्धकर्म को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य अपने दिवंगत पितरों को सम्मानपूर्वक सन्तुष्ट करना था। भारतीय जनमानस में ऐसा विश्वास था कि उनकी कृपा–दृष्टि से व्यक्ति का जीवन सुखमय बन सकता है। शंखस्मृति में इसके महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए उल्लिखित है कि–'पितरगण अपने पुत्र–पौत्रों के द्वारा श्रद्धापूर्वक दिए गए श्राद्धों से प्रसन्न होकर, उन्हें सदैव सन्तति, पौष्टिकता, कीर्ति, स्वर्ग, नीरोगता और सम्पत्ति प्रदान करते हैं।[27]सुमन्तु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'श्राद्ध से बढ़कर और कोई कल्याणकारक

वस्तु नहीं हैं।[28] जो इसके महत्त्व को स्वत: स्पष्ट करते हैं। कुछ अन्य धर्मग्रन्थों ने श्राद्ध न करने पर होने वाले परिणाम को उद्घोषित करते हुए कहा है कि–'अमावस्या के दिन भूख व प्यास से व्याकुल पितरगण वायु का रूप धारण कर अपने पुत्र के घर आते हैं और सांयकाल तक स्थित होकर देखते हैं कि उनके कुल के लोगों द्वारा श्राद्ध किया जाता है कि नहीं। जब सांयकाल (सूर्यास्त) तक श्राद्ध नहीं किया जाता है तब वे निराश होकर दीर्घ श्वास छोड़ते हैं और अन्त में अपने वंशजों की भर्त्सना करते हुए चले जाते हैं। जो उचित तिथि पर जल या शाक–सब्जी से भी श्राद्ध नहीं करते उनके पितरगण, उन्हें अभिशापित कर लौट जाते हैं।[29] हारीतस्मृति का कथन है कि जिस देश अथवा कुल में श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वीर, नीरोग, शतायु पुरुष उत्पन्न नहीं होते और न वास्तविक कल्याण होता है।[30] ब्रह्मपुराण का तो यह मानना है–'जो यह समझकर कि पितरगण है ही नहीं–श्राद्ध नहीं करते, पितरगण विवश होकर उनका रक्तपान करते हैं[31]। अत: श्राद्ध का सिद्धान्त यह बतलाता है कि मरणोपरान्त भी पूर्वजों की आत्माएँ वायु में सन्तरण करते हुए चावल के पिण्डों व हविष्यान्न की सुगन्धि या सारतत्त्व वायव्य शरीर द्वारा ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसलिये मृत पितरों का श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

श्राद्ध के भेद

शंखस्मृति के आधार पर श्राद्ध को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(1) अहरह: श्राद्ध (2) पार्वण श्राद्ध । जो श्राद्ध प्रतिदिन अन्न या जल या दूध, मूल और फलों के साथ किया जाता था, वह 'अहरह: श्राद्ध' है।[32] इसे पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत पितृयज्ञ के रूप में करने का विधान था। दूसरा पार्वण श्राद्ध है।[33] यह किसी पर्व दिन, यथा–गजच्छाया योग, राहुदर्शन (ग्रहण), वैशाख या श्रावण मास के अन्तिम दिन, मकर संक्रान्ति, भाद्रपद की पूर्णिमा के बीत जाने पर मघा नक्षत्र से युक्त त्रयोदशी को किया जाता था।[34] विष्णुपुराण ने–अमावास्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी एवं संक्रान्ति–इन को पर्व दिन माना है।[35] इस श्राद्ध (पार्वण) में मुख्यत: तीन पूर्व पुरुषों का आह्वान होता है, ऐसा मिताक्षरा का विचार है।[36]

श्राद्ध के अधिकारी

शंखस्मृति में श्राद्ध के अधिकारी के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु एक स्थान पर द्विज के द्वारा शूद्र कन्या से विवाह करने पर, शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को श्राद्ध करने का अनधिकारी घोषित किया गया है। यदि वह किसी तपस्वी, यज्ञशील, धर्म का पालन करने में अग्रगण्य तथा सपिण्डजन एवं स्व–मृत सम्बन्धी का श्राद्ध करता है तो वे सभी निश्चित रूप से शूद्रत्व को प्राप्त करते हैं। अत: पुत्र को ही श्राद्ध करने का अधिकार था, लेकिन शूद्रा के पुत्र को नहीं।[37] धर्मसिन्धु में उद्धृत शंख के वचन में स्पष्ट कहा गया है–'एक पुत्र को ही पिता का श्राद्ध करना चाहिये, पुत्र के अभाव में पत्नी को और पत्नी के न होने पर सहोदर भाई को श्राद्ध करना चाहिये।[38]

श्राद्ध का काल

श्राद्धकर्म पितृयज्ञ के रूप में प्रतिदिन[39]तथा कुछ निश्चित काल, तिथियों एवं अवसरों पर करने का विधान था। शंखस्मृति में उल्लिखित है कि– 'श्राद्ध गजच्छाया योग, राहुदर्शन (ग्रहण), वैशाख या श्रावण मास के अन्तिम दिन, मकर या कर्कट संक्रान्ति, भाद्रपद की पूर्णिमा के पश्चात् मघा नक्षत्र से युक्त त्रयोदशी को किया जाना चाहिये। इन दिनों में अर्पित किया गया श्राद्ध पितरों के लिए अनन्त समय तक तृप्तिकारक होता है।[40] जो कोई अमावास्या, भाद्रपद के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी तथा चन्द्र के मघा नक्षत्र में होने पर श्राद्ध नही करता, वह नरक को प्राप्त करता है।[41] मनुस्मृति में शंखस्मृति से कुछ भिन्न मत को

उद्धृत किया गया है। उसके अनुसार 'मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को छोड़कर दशमी से आरम्भ करके किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई चान्द्र सम तिथि (दशमी एवं द्वादशी) एवं सम नक्षत्रों (भरणी, रोहिणी, पुष्य आदि) में श्राद्ध करे तो उसकी कामनाओं की पूर्ति होती है। यदि कोई विषम तिथि (एकादशी, त्रयोदशी आदि) में एवं विषम नक्षत्रों (अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा आदि) में पितृपूजा करता है तो वह भाग्यशाली सन्तति को प्राप्त करता है।[42] इस कर्म को रात्रि में, विशेष रूप से सन्ध्याकाल में करने का निषेध था अर्थात् श्राद्ध की समस्त क्रियायें अपी के समय सम्पन्न की जाती थी[43]। शतपथब्राह्मण में पितरों के लिए अपी के समय को निश्चित करते हुए कहा गया है कि–'पूर्वी देवों के लिए, मध्याह्न मनुष्यों एवं अपी पितरों के लिए है[44]। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी वर्णित है कि–'श्राद्धकर्म के लिए मास के दूसरे पक्ष में मध्याह्न के बाद का समय श्रेयस्कर है। कृष्णपक्ष के पन्द्रह दिनों में से उत्तर–उत्तर वाला दिन श्रेष्ठ है[45]। आपस्तम्बधर्मसूत्र के टीकाकार हरदत्त मिश्र का मत है कि यदि श्राद्धकर्म का आरम्भ करने में विलम्ब होने से श्राद्ध के मध्य (बीच) में ही सूर्यास्त हो जाए तो श्राद्ध की अवशेष क्रिया रात्रि में न करके दूसरे दिन करनी चाहिये।

श्राद्ध में प्रशस्त-अप्रशस्त ब्राह्मण

श्राद्ध के समय विद्वान् ब्राह्मण को अधिक महत्त्व दिया गया था। शंखस्मृति का कथन है कि–'एक द्विज के द्वारा दैवकर्म में ब्राह्मणों की परीक्षा अपेक्षित नहीं है, किन्तु पितृकर्म में उपस्थित होने वाले ब्राह्मणों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है[46]। यह परीक्षा उनके शील (चरित्र), कर्मों की पवित्रता व व्यवहार तथा बौद्धिक क्षमता के अनुसार करके[47]'पंक्तिपावन ब्राह्मणों'– चारों वेद एवं वेदाङ्गों के ज्ञाता, वेद मंत्रों का गान करने वाले, नाचिकेत अग्नि में तीन बार यजन करने वाले, पाँच पवित्र अग्नियों को प्रज्वलित करने वाले, ब्राह्म विवाह से विवाहित स्त्री की सन्तान, अपनी पुत्री का विवाह ब्राह्म विवाह की विधि से करने वाले व ब्राह्म विवाह की रीति से विवाहित स्त्री का पति, नित्य योग में रत, मिट्टी के ढेले, पत्थर व स्वर्ण आदि वस्तुओं में समदृष्टि रखने वाले, ध्यानशील, संयमी (क्रोध एवं वासनाओं से मुक्त तथा मन एवं इन्द्रियों पर संयम करने वाले) और ज्ञानवान् को श्राद्ध में आमन्त्रित किया जाता था।[48] कुछ अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों के विषय में इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये हैं[49]। आपस्तम्ब एवं मनु का तो यह भी मत है कि यदि आमन्त्रित व्यक्तियों में सभी गुणवान् हों तो उनमें से जो ब्राह्मण अवस्था की दृष्टि से वृद्ध, निर्धन एवं भोजन करने के इच्छुक हों उन्हें भोजन के लिए आमन्त्रित करना चाहिए।[50]

दूसरी ओर श्राद्ध में ऐसे पंक्तिदूषक ब्राह्मण (जिसमें ब्राह्मण बैठकर भोजन करते हैं, ऐसी पंक्ति को अपवित्र करने वाले) अवांछनीय थे, जो शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक आदि दोषों से युक्त तथा नास्तिक थे, यथा–निषिद्ध कर्मों को (वही,2123 पर हस्दत्त मिश्र की टीका करने वाले, बिलाव जैसे व्रत वाले (धूर्त), कम या अधिक अंगों वाले (यथा–छः अंगुली वाले), गुरुजनों के प्रति प्रतिकूल व्यवहार व उनका त्याग करने वाले, वेदाध्ययन व यज्ञकर्म को न करने वाले, अनध्याय काल में अध्ययन करने वाले, पवित्रता व उत्तम आचरण से हीन और शूद्रों के अन्न के रस से परिपुष्ट होने वाले इत्यादि।[51]मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में भी श्राद्ध में अप्रशस्त ब्राह्मणों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।[52]

श्राद्ध में ब्राह्मणों की संख्या

पितृकर्म में उत्तराभिमुख तीन तथा दैवकर्म में पूर्वाभिमुख दो अथवा दोनों ही अवसरों पर इच्छानुसार विविध ब्राह्मणों को या एक–एक ब्राह्मण को भोजन कराने का विधान था। वह एक पंक्तिपावन ब्राह्मण को भी भोजन करवाकर, नैवेद्य को अग्नि में

डाल सकता था। तात्पर्य यह है कि यदि कोई एक ही ब्राह्मण को आमन्त्रित करने में समर्थ हो या उसे एक ही ब्राह्मण प्राप्त हो सके तो वह ब्राह्मण पितृकर्म के लिए समझा जाता था और देवों की आहुतियाँ अग्नि में डाल दी जाती थी।[53] मन्वादि धर्मशास्त्रकारों का भी यही मानना है। साथ ही उनका यह कहना है कि व्यक्ति के अधिक समृद्ध होने पर भी इनसे अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन नहीं कराना चाहिये, क्योंकि अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराने पर, आमन्त्रितों का सम्यक् सत्कार, उचित स्थान की प्राप्ति (यथा–दक्षिण की ओर ढालू भूमि), समय के औचित्य, पवित्रता तथा योग्य ब्राह्मण की प्राप्ति–इन पाँच रूपों का विनाश होता है। अतएव ब्राह्मणों की संख्या का विस्तार नहीं करना चाहिये।[54] स्पष्ट है कि आमन्त्रितों की संख्या कर्त्ता के साधनों पर नहीं प्रत्युत्त आमन्त्रित करने वाले की योग्यता पर निर्भर थी, जिससे वह आमन्त्रितों के सत्कार की क्रिया सम्यक् रूप से कर सके।

श्राद्धकर्ता एवं श्राद्धभोक्ता के लिए पालनीय नियम

श्राद्ध में श्राद्ध करने वाले और श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों के लिए कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य था। श्राद्धकर्ता के लिए शीघ्रता से कार्य करना एवं क्रोध करना वर्जित था।[55]इसी प्रकार श्राद्धभोक्ता के लिए पूरे दिन ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन आवश्यक था। शंखस्मृति में वर्णित है कि 'श्राद्ध में आमन्त्रित जो ब्राह्मण स्त्री से सम्भोग करता है तो श्राद्ध में भोजन कराने वाला (श्राद्धकर्ता) और करने वाला (श्राद्धभोक्ता) दोनों ही घोर पाप से युक्त हो जाते हैं।[56] मनुस्मृति में उपर्युक्त नियम श्राद्धकर्ता एवं श्राद्धभोक्ता दोनों के लिए उपयुक्त माने गये हैं।[57] लघुशंखस्मृति में तो आमन्त्रित ब्राह्मणों के लिए–पुनर्भोजन, यात्रा, भार ढोना, वेदाध्ययन, मैथुन, दान देना व दान ग्रहण करना तथा होम का परित्याग करने को भी कहा गया है।[58] अन्य शास्त्रग्रन्थों में भी इसी प्रकार श्राद्धकर्ता एवं श्राद्धभोक्ता के लिए त्याज्य कर्मों का विशद् उल्लेख मिलता है।[59]

श्राद्ध में ग्राह्य एवं त्याज्य पदार्थ श्राद्ध में प्रयुक्त तथा प्रयुक्त न होने वाले कुछ विशिष्ट खाद्य पदार्थों एवं वस्तुओं के विषय में कतिपय नियमों की व्यवस्था थी। शंखस्मृति के अनुसार पितृकर्म में गर्म भोजन के साथ–साथ आम, आंवला, गन्ना, अंगूर, दही, अनार, बिदारी कन्द, केला आदि फल, मधु से मिश्रित धान व खील, शक्कर से युक्त सत्तुओं, सिंघाड़ों तथा भीसों का उपयोग किया जाता था।[60] भाद्रपद की पूर्णिमा के पश्चात् मघा नक्षत्र से युक्त त्रयोदशी को तो यह कृत्य मधु या खीर से सम्पादित करने का विधान था।[61] सम्भवत: उक्त तिथि को इन पदार्थों से श्राद्ध किया जाना उत्तम माना जाता रहा होगा। मन्वादि स्मृतिग्रन्थों में उल्लिखित है कि यदि गाय का दूध या उसमें भात पकाकर (पायस) दिया जाये तो पितर लोग एक वर्ष तक सन्तुष्ट रहते हैं।[62] इनके अतिरिक्त पितृकर्म में कुछ अन्य वस्तुओं का प्रयोग विशेष रूप से आवश्यक था, यथा– जल में उत्पन्न होने वाले लाल रंग के पुष्प, ऊन या कपास से बना नया सूत्र, घृत या तिल के तेल के साथ दीपक जलाना, धूप के लिए घृत एवं मधु से मिश्रित गूगल देना और चन्दन एवं पिसे हुए पवित्र कुंकुम को देना।[63]

शंखस्मृति में अनेक ऐसे खाद्य पदार्थों तथा वस्तुओं का उल्लेख भी मिलता है, जिनका श्राद्धकर्म में उपयोग निषिद्ध था। भूतृण (एक प्रकार की सुगन्धित घास), सुरस, शिग्रु, पालक, सिंधुवार, सीताफल, घिय्या, बैंगन, कचनार, पीपल, मिर्च, शलगम, सभी प्रकार के नमक, बांस के अग्रभाग का, राजमाष, मसूर, कोद्रव व कोरदूष नामक अन्नों, वृक्षों के लाल गोंद, उग्र गन्ध वाले या गन्धहीन, मढी–मसान के वृक्षों पर लगने वाले तथा जो लाल रंग के पुष्प हैं, वे सब इस कार्य में वर्जित थे, किन्तु जल में उत्पन्न होने वाले पुष्पों का भले ही वे लाल रंग के हों, प्रयोग हो सकता था। विष्णुधर्मसूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध

होता है।[64] इसके साथ ही बुने हुए वस्त्र के अग्रभाग को, चाहे वह नये कपड़े का ही क्यों न हो, उससे दीपक की बत्ती बनाने का भी निषेध था।[65]

श्राद्ध में मांस-भोजन का विधान

श्राद्ध के अवसर पर मांस का प्रयोग होता था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु महर्षि शंख ने धर्मज्ञ यम के वचन को उद्धृत किया है जिसमें मांस भोजन की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'ऋतु के अनुसार शाक, मछली के शल्कों, गैंडे के मांस और भैंस के मांस को श्राद्ध में देने वाला अनन्त पुण्य को प्राप्त करता है।[66] इसी प्रकार अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध में मांस भोजन की आवश्यकता को अभिव्यक्त किया है। आपस्तम्ब ने नियमपूर्वक किए जाने वाले मासिक श्राद्ध में घृत तथा मांस से युक्त भोजन देना सर्वोत्तम माना है।[67]मनु का मत है कि 'पितरों के कृत्य में आमन्त्रित जो व्यक्ति मांस का भक्षण नहीं करता है, वह मरणोपरान्त इक्कीस जन्मों तक पशु योनि को प्राप्त करता है।[68] उन्होंने तो श्राद्ध भोजन में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों तथा पशुओं के मांस से उत्पन्न पितरों की सन्तुष्टि का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार पितरगण काला तिल, धान्य, यव, काला उड़द, जल, मूल (कन्द) एवं फलों को विधिवत् देकर एक मास, पोठिया आदि मछली के मांस से दो मास, मृग के मांस से तीन मास, भेड़ के मांस से चार मास, पक्षियों के मांस से पाँच मास, बकरे के मांस से छः मास, पृषत् नामक मृग के मांस से सात मास, एण नामक मृग के मांस से आठ मास, रुरु नामक मृग के मांस से नौ मास, जंगली सुअर एवं भैंसे के मांस से दस मास, खरगोश व कछुवे के मांस से ग्यारह मास, गौ के दूध व उसके दूध से बने पदार्थ (पायस आदि) से एक वर्ष, वार्षीणस बकरे के मांस से बारह वर्षों और कालशाक (एक प्रकार का शाक विशेष), महाशल्क (कृष्णवर्ण बथुवे का शाक या एक प्रकार की मछली), गैंडे व लाल बकरे के मांस तथा सब प्रकार के मुन्यन्न (नीवार आदि) से अनन्तकाल तक सन्तुष्ट रहते हैं।

श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन एवं पिण्डदान की विधि

श्राद्धकर्ता को ब्राह्मण भोजन व पिण्डदान विषयक समस्त क्रिया मनोयोगपूर्वक सम्पन्न करनी होती थी। उसे अतिशीघ्रता एवं क्रोधादि का त्यागकर प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करके पुष्प, मूल एवं चौकी इत्यादि को छोड़कर अर्थात् इनसे भिन्न स्थानों या आसनों पर बिठाकर विद्वान् ब्राह्मणों को गर्म भोजन खिलाना होता था।[69] ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक भोजन खिलाने एवं आचमन के पश्चात् पिण्डदान की क्रिया सम्पादित करनी होती थी। पिण्डदान की यह क्रिया शेष बचे भोजन के समीप करनी पड़ती थी। लेकिन पिण्डदान के अभाव में उस भोजन से अग्नि में आहुतियाँ देने का विधान था।[70]मनुस्मृति[71] एवं याज्ञवल्क्यस्मृति[72] में भी ब्राह्मण के द्वारा श्राद्ध भोजन समाप्त कर लेने पर पिण्डदान करने का उल्लेख मिलता है। पिण्डों का निर्माण तिलमिश्रित भात से होता है और किसी स्वच्छ स्थल पर दर्शों के ऊपर पिण्ड रखे जाते हैं। ये पिण्ड उस स्थान से जहाँ ब्राह्मण के भोजन पात्र रहते हैं एक अरत्नि दूर रहते हैं तथा कर्ता दक्षिणाभिमुख रहता है।[73] पिण्डदान के उपरान्त श्राद्धकर्ता ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर और फिर उनका अनुसरण कर विदा करता था।[74] तत्पश्चात् पिण्डस्थान पर, जो भोजन गृह में पकाया गया है उसे समर्पित करके भोजन खाता था।[75]

श्राद्ध के लिए उचित एवं निषिद्ध स्थान

श्राद्ध-सम्पादन हेतु कुछ पवित्र स्थलों को उपयुक्त माना गया था, यथा-गया, प्रभास, पुष्कर, प्रयाग, नैमिषारण्य (सरस्वती नदी), गंगा व यमुना के तट, विन्ध्य की पयोष्णी (पूर्णा) नामक नदी, अमरकण्टक, नर्मदा, गया नदी के तट, वाराणसी,

कुरुक्षेत्र, भृगुतुङ्ग, हिमालय, सप्तवेणी और ऋषिकूप। इन स्थलों पर दी गई पवित्र वस्तु पितरों के लिए अक्षय होती है, ऐसा विश्वास था।[76] मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध के लिए इसी प्रकार श्रेष्ठ स्थानों को महत्त्व दिया है।[77] इसके अतिरिक्त कुछ देशों या स्थलों में श्राद्ध करना वर्जित था। महर्षि के मत से म्लेच्छों के देश अर्थात् जिसमें चार वर्णों की परम्परा नहीं पाई जाती, ऐसे देश में न तो श्राद्ध करना चाहिये और न जाना चाहिये।[78] विष्णु का भी यही कथन है।[79] एक अन्य स्थल पर शंख ने व्यवस्था दी है कि–'बैलों, हाथियों एवं घोड़ों की पीठ, ऊँची भूमि या दूसरे की भूमि पर भी श्राद्ध नहीं करना चाहिये।[80] इसका कारण यह है कि यदि कोई किसी अन्य की भूमि पर अपने पितरों का श्राद्ध करता है तो उस भूमि के स्वामी के पितरों द्वारा वह श्राद्धकृत्य नष्ट कर दिया जाता है।[81] अतएव व्यक्ति को सदैव पवित्र स्थानों–तीर्थों, नदी–तटों, देशों, पर्वतों पर ही श्राद्ध करना चाहिये।

इस प्रकार व्यक्ति स्वर्गगत अपने स्नेही जनों की आत्मा की शांति, प्रसन्नता तथा तृप्ति हेतु पूर्ण आस्था व विश्वास के साथ विधिवत् श्राद्ध करके सुख–समृद्धि को प्राप्त करता है।

श्राद्ध का आधुनिक दृष्टि से विवेचन

हिन्दू धर्म में आदिकाल से चली आ रही श्राद्ध की परम्परा के वर्तमान समाज में विद्यमान रहने पर भी बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जो श्रद्धा से विधिपूर्वक इस कर्म का अनुष्ठान करते हैं। इसका कारण उनके मध्य बनी विभिन्न प्रकार की आशंकाएँ हैं। अधिकांश व्यक्तियों को तो यह शंका बनी रहती है कि मृत माता–पिता, स्वजनों आदि को हमारे द्वारा दिये गये अन्न–जलादि से क्या लाभ हो सकता है? अनेकों का यह मत है कि उन्हें कुछ लाभ हो या न हो, इस कर्म से हमारी उनके प्रति (यादगार) का अवसर मान लेते हैं। कुछ इस कर्म का सम्पादन अपने स्वजनों में निन्दा फैल जाने के भय से करते हैं, उनके लिए यह एक विवशता है। ऐसे निम्न व तुच्छ विचारों से किये हुए कार्य में शास्त्रीय विधानों का आदर न होना, श्रद्धा का ह्रास हो जाना और आधुनिक शिक्षा व आधुनिकीकरण के कारण इस कृत्य का सामान्य परम्परागत रूढ़ व्यवहार का रूप धारण कर लेना स्वाभाविक ही है। आज तत्कालीन समय की अपेक्षा, जो अन्तर आया है वह निम्न है

शंखस्मृति काल में श्राद्धकर्म (अहरह: व पार्वण) एक निश्चित कालावधि में सम्पादित करने का विधान था। प्रथम श्राद्ध पितरों के निमित्त प्रतिदिन सम्पन्न किया जाता था। आजकल कुछ कट्टर ब्राह्मणों को छोड़कर प्रतिदिन पितरों के लिए श्राद्ध कोई नहीं करता, यह लुप्तप्राय: है। दूसरा पार्वण श्राद्ध, जिसका अनुष्ठान कुछ विशिष्ट पर्वो–गजच्छाया योग, ग्रहणादि में होता था, उसमें भी आज क्षीणता आयी है। सामान्य परिवारों में गजच्छाया योग, ग्रहण, मकर–संक्रान्ति आदि पर श्राद्ध विषयक कोई क्रियाकलाप नहीं देखा जाता है। नई पीढ़ी तो गजच्छाया योग जैसे समयों से ही अनभिज्ञ है। शेष समयों या तिथियों का यथावत् पालन करने वाले अब बहुत ही कम हैं। आज कालप्रभाव से शिष्ट सम्प्रदायों में अमावास्या, प्रतिसांवत्सरिक (जो माता–पिता की मृत्यु तिथि पर प्रतिवर्ष किया जाता है), नान्दीश्राद्ध या वृद्धिश्राद्ध (जो पुत्रोत्पत्ति, विवाहादि शुभावसर पर किया जाता है), तीर्थश्राद्ध आदि का ही विशेष प्रचार देखने को मिलता है।

पार्वण श्राद्ध की पद्धति जहाँ सामान्यतया सभी के द्वारा अनुकरणीय थी वहीं आज भारत के विभिन्न भागों में यह कई प्रकार से सम्पन्न की जाती है। पी.वी. काणे ने इस प्रकार की विभिन्नता के कई कारण उद्धृत किये हैं–कर्ता का किसी वेद या किसी

वेद-शाखा से सम्बन्धित होना, उसके द्वारा किसी प्रसिद्ध लेखक को तथा किसी वैष्णव या शैव सम्प्रदाय को मान्यता देना आदि। उदाहरणस्वरूप-मिथिला के वाजसनेयि लोग श्राद्धकर्म के लिए कात्यायन के 'श्राद्धसूत्र' को प्रमाणिक मानते हैं। बंगाल के कुछ लोग रघुनन्दन के 'श्राद्धतत्त्व' एवं 'यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व' में व्यवस्थित नियमों का, मद्रास या दक्षिण भारत में वैष्णव ब्राह्मण वैदिक-सार्वभौम या तोलप्पर के हारीत वेंकटाचार्य की पूर्व एवं अपर क्रिया का और स्मार्त-ब्राह्मण लोग वैद्यनाथ के 'स्मृतिमुक्ताफल' का अनुसरण करते हैं। पश्चिम भारत के ऋग्वेदियों में प्रतिसांवत्सरिक श्राद्ध प्रसिद्ध है। इस प्रकार भारत के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न वेदों के अनुयायियों द्वारा विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी जा रही हैं।[82]

वर्तमान काल में, जितने भी श्राद्ध प्रचलित हैं उनमें तत्कालीन समय की अपेक्षा क्रिया-विधानों का अभाव है। उन दिनों श्राद्ध में विद्वान् एवं साधुचरित ब्राह्मणों को ही प्राथमिकता दी जाती थी। आज भी बहुधा इसी प्रकार के ब्राह्मणों को ही प्रधानता दी जाती है, किन्तु ब्राह्मणों की अत्यधिक संख्या बढ़ने से यह पहचानना कि-कौन विद्वान् एवं साधुचरित है, अत्यन्त कठिन है। इसलिये अधिकांशत: लोग गृह पर किये जाने वाले श्राद्ध की क्रिया, बिना ब्राह्मण को आमन्त्रित किये ही सम्पादित कर देते हैं। भारत के कुछ प्रदेशों में इस प्रथा में भेद मिलता है, यथा-दक्षिण एवं पश्चिम-भारत में श्राद्ध के अन्तर्गत आमन्त्रित ब्राह्मण पूजित होते हैं, किन्तु बंगाल में दर्भो की आकृति पूजी जाती है। ब्राह्मणों की संख्या भी व्यक्ति के अपने सामर्थ्य या इच्छा पर निर्भर है।

श्राद्ध में जिन ग्राह्य पदार्थों का विस्तृत वर्णन मिलता है उनका अब उतनी अधिक संख्या में प्रयोग न होकर, जितने से कार्य सम्पन्न हो सके उतने ही खाद्य पदार्थों एवं वस्तुओं का उपयोग किया जाता है, यथा-अमावास्या को केवलमात्र खीर, रोटी एवं तिलयुक्त जल से श्राद्ध कर दिया जाता है। वार्षिक श्राद्ध (मृत की तिथि के समय) पर सूजी का हलवा या खीर, पूड़ी, सब्जी, पुष्प, तिलयुक्त जल आदि से अनुष्ठान किया जाता है। ये सब व्यक्ति अपने कुलाचार के अनुसार करता है। जहाँ तक मांस-प्रयोग का प्रश्न है तो वर्तमान में ब्राह्मणों के लिए मांस का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। आज भारत में केवल उत्तरी भाग में, जहाँ भोजन में मछली का प्रयोग होता है, यथा-बंगाल एवं मिथिला में, मांसार्पण होता है अन्यत्र नहीं। इसका कारण देशाचार है, जिसके अनुसार शाक, फल, मूल, मधु, मांस एवं अन्य पदार्थ दिये जा सकते हैं।[83]

उस समय जहाँ गया, प्रयाग, गंगा, यमुना, वाराणसी आदि तीर्थ-स्थानों में दिया गया श्राद्ध पितरों के लिए अक्षय माना जाता था वहीं आज भी लोगों में यह धारणा बनी हुई है, लेकिन अधिकांशत: व्यक्ति समय का अभाव होने के कारण मृत की अस्थियों को एक बार तीर्थ में प्रवाहित करने या पिण्डदान करने के उपरान्त दोबारा तीर्थ स्थान पर न जाकर गृह पर ही वार्षिक आदि श्राद्ध को सम्पन्न कर देते हैं। आजकल कई सज्जनों को ऐसी भ्रांति है कि गया श्राद्ध के बाद पिण्डदान गृह पर नहीं हो सकता, तो यह निरी भ्रांति ही है। शास्त्र में इसका कोई मूल नहीं है।

अध्ययन के उपरान्त कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में श्राद्ध प्रक्रिया मूलत: परिवर्तित हो चुकी है फिर भी आज श्राद्ध विधिपूर्वक पद्धति से होना आवश्यक है, तभी उसका फल प्राप्त होगा। जो विद्वान् महानुभव श्राद्धकर्म में विश्वास रखते हैं और यह समझते हैं कि ऐसा करने से मृत को शांति मिलती है तो उन्हें अपने दिवंगत माता-पिता, स्वजनों, सम्बन्धियों के प्रति श्रद्धा-भावना से नियमवत् इसका सम्पादन करना चाहिये। यदि उनमें सम्पूर्ण विधि करने का सामर्थ्य न हो तो विकल्परूप में ब्राह्मण भोजन मात्र ही करवा सकता है, किन्तु जो करने में समर्थ है, उन्हें विधि का त्याग नहीं करना चाहिये। जो व्यक्ति समयाभाव के कारण अपने सगे-सम्बन्धियों का श्राद्ध न कर सके तो उसे अपने दिवंगत माता-पिता का

प्रतिसांवत्सरिक श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इस श्राद्ध का अन्य श्राद्धों में सर्वाधिक महत्त्व है। यदि कोई पुत्र माता-पिता के मृत्यु-दिन वार्षिक श्राद्ध नहीं करता तो वह तामिस्र नामक भयानक नरक में जाता है और फिर श्व (कुत्ते) की योनी में जन्म लेता है, ऐसा मानना है।[84]जिन व्यक्तियों का श्राद्ध में विश्वास नहीं है, उन्हें अपने प्रिय एवं सन्निकट सम्बन्धियों के प्रति स्नेह एवं आदर की भावना रखते हुए, वर्ष में एक दिन उनका स्मरण करना, मृत की स्मृति में सम्बन्धियों, मित्रों एवं विद्वान् जनों को भोजन के लिए आमन्त्रित करना, धनहीन, सच्चरित्र तथा सत् विचार रखने वाले व्यक्तियों को दान देना आदि क्रियाओं को अवश्य करना चाहिये। ऐसा करना अतीत की परम्पराओं के अनुकूल होगा और उन आचरणों एवं व्यवहारों को, जो आज निर्जीव एवं निरर्थक से लगते हैं, पुनर्जीवित एवं अनुप्रमाणित करने के समान होगा। अत: व्यक्ति को किसी-न-किसी रूप में अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान का भाव अभिव्यक्त करना चाहिये।

शुद्धि विधान

आरम्भिक समय से ही शुद्धि को मानवजीवन की सार्थकता, नियमितता व पवित्रता के लिए अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। चाहे वह आचार-विचार की शुद्धता हो या फिर किसी प्रकार की घटना या किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि की शुद्धि हो। इसका कारण व्यक्ति में शारीरिक एवं मानसिक रूप से शुद्धि का आधान कर, उसे धार्मिक क्रियाओं के योग्य बनाना तथा व्यवहारिक रूप में शुद्धता प्रदान करना था। जो सांस्कृतिक जीवन एवं धर्म का आधार है। इसी से धर्म की वृद्धि होती है। यही मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण कर नैतिक व सात्त्विक जीवन जीने के लिए उत्साहित करती है तथा उसे सामाजिक नियमों के परिपालन योग्य बनाती है। अतएव शुद्धि व्यक्ति के जीवन में सुख, मङ्गल तथा कल्याण की प्राप्ति कराने वाली है।

'शुध्' धातु 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'शुद्धि' शब्द[85]वैदिकग्रन्थों में शुद्धता एवं पवित्रता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[86] गौतमधर्मसूत्र में आठ आत्मगुणों के अन्तर्गत 'शुद्धि' को भी आत्मगुण माना गया है, जिनसे युक्त व्यक्ति ब्रह्म के सायुज्य एवं सालोक्य को प्राप्त करता है।[87] शुद्धिकौमुदी में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'वेद से बोधित कृत्यों के सम्पादन की दशा या उन्हें करने की योग्यता की स्थिति 'शुद्धि' है।[88] स्मृतिग्रन्थों में इसका प्रयोग अशौच या आशौच के उपरान्त की शुद्धि के लिए किया गया है।[89] शंखस्मृति में शुद्धि के अन्तर्गत जन्म-मरण के समय के अशौच, शारीरिक शुद्धि एवं किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि, यथा-विभिन्न प्रकार के अशुद्ध पात्रों, खाद्य पदार्थों, भूमि, वस्त्र, काष्ठ एवं अस्थि-निर्मित आदि वस्तुओं की शुद्धि का विवेचन किया गया है। इसमें अशौच का सर्वाधिक महत्त्व है। वस्तुत: शंखस्मृति के काल में शुद्धि के नाम पर तीन प्रकार के व्यवहार प्रचलित थे- अशौच (जन्म-मरण विषयक अशुद्धि), शरीरशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि । इनका क्रमानुसार वर्णन निम्नलिखित है अशौच अशौच शब्द का अर्थ व तात्पर्य पाणिनि मतानुसार 'अशौच' शब्द की निष्पत्ति निषेधार्थक 'न' अव्ययपूर्वक 'शुचि' शब्द से 'अण्' प्रत्यय लगने पर हुई है, जिसका सामान्य अर्थ है- अपवित्रता या अशुद्धि।[90]धर्मग्रन्थों में अशौच के लिए 'आशुच्य[91] 'अशुचि[92]' एवं 'अघ[93] पद का प्रयोग भी मिलता है। जबकि वैदिक साहित्य में 'अघ' का अर्थ 'पाप'[94]ग्रहण किया गया है। गौतमधर्मसूत्र के मिताक्षरा टीकाकार हरदत्त ने 'अशौच' शब्द का लक्षण करते हुए, 'धार्मिक कर्मों के सम्पादन में अनधिकार, अभोज्यान्नता, अस्पृश्यता व दानादि में अनधिकार को अशौच माना है।[95] शंख ने अशौच में मृत के लिए पिण्डदान की क्रिया को छोड़कर 'अशौच' को अभोज्यान्नता, दान देने व दान लेने, हवन, स्वाध्याय एवं पितृकर्म की अनधिकारिता के अर्थ में लिया है।[96]मिताक्षरा के अनुसार 'अशौच' पुरुषगत अशौच है। जो

स्नान व समय के साथ समाप्त हो जाता है। इसमें एक ओर पिण्डदान व उदकदान का विधान है वहीं वैदिक अध्ययन-अध्यापन व दानादि अन्य कृत्यों का निषेध किया गया है।[97] तात्पर्य यह है कि अशौच धार्मिक कर्म के अधिकार या योग्यता के अभाव का बोधक मात्र नहीं है, क्योंकि उन लोगों को जो जन्म या मरण पर अशुद्ध हो गये हैं, जल-तर्पण इत्यादि धार्मिक-कृत्य करने ही होते हैं।

अशौच के भेद एवं अवधि

अशौच के दो भेद माने गये थे-जननाशौच एवं मरणाशौच। जन्म से उत्पन्न अशौच को जननाशौच या सूतक और मृत्यु से उत्पन्न अशौच को मरणाशौच या मतकाशौच कहा जाता है।[98] इन दोनों प्रकार के अशौच में शुद्धि के काल का निर्धारण वर्णानुसार था। शंखस्मृति में उल्लिखित है कि-वैदिक अग्निहोत्री एवं वेदज्ञ ब्राह्मण सपिण्डजनों के जन्म एवं मृत्यु पर तीन दिन में शुद्धि को प्राप्त करता है। जो अग्निहोत्री एवं वेदज्ञ नहीं है, वह दस दिन में शुद्ध होता है।[99] क्षत्रिय बारह दिन, वैश्य पन्द्रह दिन एवं शूद्र एक मास में शुद्ध हो जाता है। स्मृतिकार मनु एव अत्रि का भी यही कथन है।[100] याज्ञवल्क्य ने अशौच से सम्बन्धित अवधि के विषय में कुछ भिन्न मत उद्धृत किया है। उन्होंने एक सदाचारी शूद्र के लिए मात्र पन्द्रह दिनों में और अन्य शूद्रजनों के लिए तीस दिनों में शुद्धि कही है।[101] अशौचावधि में वर्ण के साथ-साथ जनन या मृतक की अवस्था, यथा-वह शिशु है या बालक, जन्म से पूर्व मृत्यु हुई है या बाद में, स्त्री है या पुरुष, मृतक का उपनयन संस्कार हो चुका है या नहीं, मृत्यु सम्बन्धी के समीप हुई या कहीं दूर, कितने दिनों के पश्चात् जन्म या मृत्यु का समाचार सम्बन्धी तक पहुँचा है आदि बातों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

जननाशौच

स्त्री के लिए गर्भस्राव व प्रसवकाल में अशौच का विधान था। गर्भाधान के पश्चात् चतुर्थ माह के गर्भ गिरने को 'स्राव' एवं पंचम या षष्ठ माह के गर्भ गिरने को 'पात' तथा सप्तम माह या उसके बाद के गर्भ गिरने को 'प्रसव' या 'प्रसूति' कहा जाता है।[102] शंखस्मृति के अनुसार गर्भस्राव में स्त्री को जितने मास का गर्भ है उतनी ही रात्रियों (दिन-रात) का अशौच रहता है। भ्रूण के जन्म व मृत उत्पन्न होने पर सभी वर्गों में अशौच क्रम से दस, बारह, पन्द्रह एवं तीस दिनों का होता है। इसके पश्चात् वे स्पृश्य हो जाते हैं।[103] यदि स्त्री ने अपने पिता के गृह में पुत्री को जन्म दिया है तो वे एक दिन में शुद्ध हो जाते हैं।[104] जो स्त्री प्रमादवश अपने से निम्न वर्ण के पुरुष से बच्चे को जन्म देती है तो ऐसे बच्चे के जन्म से उत्पन्न होने वाला अशौच उस नारी के लिए कभी समाप्त नहीं होता है।[105] यदि पहले से ही जन्म का अशौच चल रहा हो और इसी मध्य में दूसरा जनन अशौच प्रारम्भ हो जाए तो व्यक्ति प्रथम अशौच की समाप्ति पर दूसरे से मुक्त हो जाता है। यही नियम मरणाशौच में भी व्यवहृत होता है। इसी प्रकार जन्म का अशौच रहते हुए, मरण का अशौच प्रारम्भ होने पर, व्यक्ति जन्म के अशौच से मृत्यु के अशौच के साथ और मृत्यु का अशौच रहते हुए, जन्म का अशौच प्रारम्भ होने पर वह मृत्यु के अशौच से जन्म के अशौच के साथ शुद्धि को प्राप्त कर लेता है।[106] जनन विषयक यह अशौच माता एवं पिता दोनों को लगता था, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति में दोनों का समान सहयोग रहता है।[107]

मरणाशौच

जननाशौच के समान मरण को भी अशौच का कारण माना गया था। शंखस्मृति के अनुसार अग्नि, अनशन व जल से मरने वाले, आत्महत्या, पतित, कृपाण आदि शस्त्रों या विद्युत से मरने वाले, संन्यासी, व्रतधारी, ब्रह्मचारी, राजा, शिल्पी (यथा-

चित्रकार, धोबी या रंगसाज), दीक्षा (जिसने यज्ञ में दीक्षा प्राप्त की हो) ग्रहण करने वाले तथा राजकार्य में सहयोग करने वाले को छोड़कर[108] सपिण्डजनों के लिए आयु व अवस्था के अनुरूप मृत्यु सम्बन्धित अशौच के नियमों की व्यवस्था थी। लेकिन जो संन्यासी किसी अन्य के अशौच में भोजन करता था, वह अशौच का भागी बनता था और अशौचावधि के पूर्ण होने पर उसकी शुद्धि मानी जाती थी[109] संन्यासी के अतिरिक्त व्यक्ति के लिए भी अन्य के अशौच में भोजन करने के परिणाम को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि 'जो व्यक्ति दूसरे के अशौच में भोजन करता है, वह मरणोपरान्त कीटयोनि में उत्पन्न होता है अथवा जिसका अन्न खाकर वह मरता है, उसी की योनि में उत्पन्न हो जाता है।[110] इसलिये दूसरे के अशौच में भोजन करने का यथासम्भव त्याग करना चाहिये।

बालक की आयु व अवस्था भेद से मरणाशौच : महर्षि शंख के मत से दाँत निकलने से पूर्व बालक की मृत्यु होने पर सपिण्डों की तत्काल शुद्धि होती है। जिसका चूड़ाकरण एवं उपनयन संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे बालक की मृत्यु होने पर सपिण्डजन क्रम से एक दिन-रात एवं तीन दिन में शुद्ध हो जाते हैं।[111] मन्वादि स्मृतिकारों ने शंख के मत को स्वीकृत करते हुए[112] कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख किया है, जिनका वर्णन शंखस्मृति में उपलब्ध नहीं होता है। मनु का कथन है कि 'दो वर्ष से कम आयु वाले बालक के मरने पर उसे मालादि से सुसज्जित कर ग्राम से बाहर जंगल में किसी पवित्र भूमि पर काष्ठ के समान छोड़कर तीन दिन तक अशौच का पालन करना चाहिये, उसके लिए दाह संस्कार एवं उदकदान नहीं करना चाहिये।[113] याज्ञवल्क्य ने मनु का अनुसरण करते हुए, इस अवस्था के बालक को भूमि में गाड़ने और उदकदान न करने का विधान किया है।[114] पराशर ने 'जिसके दाँत न निकले हो और जो प्रसव के तुरन्त बाद मर गया हो, ऐसे बालक के लिए दाह संस्कार व उदकदान के साथ-साथ अशौच का भी निषेध किया है। उन्होंने दाँत निकलने, दाँत निकलने के तुरन्त पश्चात् तथा चूड़ाकरण करने के उपरान्त मृत्यु होने पर उसके लिए दाह संस्कार एवं तीन दिन के अशौच का विधान किया है।[115]

अविवाहित कन्या व शूद्र के लिए मरणाशौच :

शंखस्मृति के अनुसार 'यदि कन्या एवं शूद्र की मृत्यु विवाह करने से पूर्व हो जाए, तो उनके सपिण्डजनों की तीन दिन में शुद्धि हो जाती है। अविवाहित जो शूद्र सोलह वर्ष की आयु से अधिक है, उसकी मृत्यु होने पर सपिण्डजन एक मास में शुद्धि को प्राप्त करते हैं। यदि अविवाहिता रजस्वला कन्या की पिता के घर में मृत्यु हो जाए तो उससे उत्पन्न होने वाला अशौच कभी समाप्त नहीं होता।[116] मनु के विचार से अविवाहिता कन्या के वाग्दान के अनन्तर मरने पर पतिपक्ष तथा सपिण्ड-पितृपक्ष वाले तीन दिन में शुद्ध हो जाते हैं।[117] जबकि याज्ञवल्क्य ने अपरिणीता कन्या के वाग्दान से पूर्व मरने पर अहोरात्र की शुद्धि कही है।[118]

विवाहिता स्त्री के लिए मरणाशौच :

विवाहिता स्त्री जो अपने पिता के गृह में रह रही थी, उसकी मृत्यु होने पर तीन दिन में शुद्धि का विधान था। यदि स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति के गृह में चली गई है तथा जो स्त्री पहले किसी दूसरे की पत्नी रह चुकी है, उनकी मृत्यु पर उसी प्रकार तीन दिन में शुद्धि होती है।[119] याज्ञवल्क्य ने दूसरे पुरुष पर आश्रित रहने वाली अर्थात् अपने पति को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति से अनैतिक शरीर-सम्बन्ध स्थापित करने वाली स्त्री की मृत्यु पर एक दिन-रात का अशौच माना है।[120]

विष्णु के कथनानुसार विवाहित स्त्री की मृत्यु पर माता-पिता अशुद्ध नहीं होते, किन्तु मृत्यु पिता के गृह पर होने से तीन दिन का अशौच होता है।[121]

अनलोम-प्रतिलोम विवाह में मरणाशौच :

वर्णों के अनुलोम एवं प्रतिलोम कम से अर्थात् उच्च वर्गों के पुरुषों द्वारा अपने से निम्न वर्णों की स्त्रियों तथा निम्न वर्गों के पुरुषों द्वारा उच्च वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने पर अशौच के कतिपय नियम थे। शंखस्मृति में वर्णित है कि यदि ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सपिण्ड की मृत्यु हो जाए तो वह क्रम से छ: दिन, तीन दिन एवं एक दिन में व क्षत्रिय के वैश्य एवं शूद्र सपिण्ड की मृत्यु होने पर क्रम से छ: रात एवं तीन दिन में और वैश्य के क्षत्रिय एवं शूद्र सपिण्ड के सम्बन्ध में क्रम से बारह एवं छ: दिन में तथा शूद्र के क्षत्रिय एवं वैश्य सपिण्ड की मृत्यु पर क्रम से बारह एवं एक मास में शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही चारों वर्गों के सपिण्ड ब्राह्मण की मृत्यु होने पर दस दिन की शुद्धि का विधान किया गया है। स्मृतिकार दक्ष ने भी अनुलोम विवाह के विषय में इसी प्रकार का मत उद्धृत किया है-'यदि कोई ब्राह्मण चारों वर्गों की स्त्रियों से विवाह करता है तो उन स्त्रियों के जनन एवं मरण पर क्रमश: दस,छ: एवं एक दिन का अशौच होता है।[122] शंखस्मृति में स्त्री के लिए भी विधान करते हुए कहा गया है कि यदि उच्च वर्ण की स्त्री का अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ सम्बन्ध हो गया है तो उससे जन्मे बालक के मरण से उत्पन्न होने वाला अशौच उस स्त्री के लिए सदैव बना रहता है।[123] जबकि मनु ने प्रतिलोम जातियों को शूद्र के समान माना है और उन्हें शूद्रों के लिए व्यवस्थित अशौच का पालन करने वाली बताया है। विज्ञानेश्वरप्रणीत मिताक्षरा के अनुसार प्रतिलोम जातियों के लोगों की अशौचावधियाँ नहीं होती, वे लोग मल-मूत्र के त्यागोपरान्त किये जाने वाले शुद्धि सम्बन्धी नियमों के समान ही शुद्धिकरण कर लेते हैं।[124]

प्रदेशगत व्यक्ति के लिए मरणाशौच :

जन्म-मरण विषयक यह अशौच माता-पिता को ही नहीं अपितु कुल के सदस्यों एवं सम्बन्धियों पर भी होता था। शंख का विचार है कि- यदि कोई व्यक्ति प्रदेश में रहता हुआ अपने कुल सम्बन्धियों के जनन या मरण का समाचार सुने तो उसे अशौचावधि के दस दिनों में से शेष दिनों तक अस्पृश्य रूप में रहना चाहिये। यदि अशौचावधि पूर्ण हो चुकी है तो उसे तीन दिनों तक अशौच का पालन करना चाहिये, किन्तु यह समाचार एक वर्ष की अवधि पूर्ण होने के पश्चात् मिलने पर, वह स्नान करने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है।[125] महर्षि मनु एवं पराशर का भी यही मानना है।[126] मनु ने तो विकल्परूप में दस दिनों के उपरान्त सपिण्ड के जन्म या मरण की सूचना मिलने पर वस्त्रसहित जल में स्नान कर लेने से भी शुद्धि बतायी है।[127] याज्ञवल्क्य के विचार से ऐसी स्थिति में जल-तर्पण (उदकदान) से ही शुद्धि प्राप्त हो जाती है।[128] यहाँ यह ध्यातव्य है कि जन्म एवं मरण से अशौच तभी उत्पन्न होता है जब वे व्यक्ति को ज्ञात हों।

अन्य व्यक्तियों के लिए मरणाशौच : अशौच के नियम कतिपय अन्य व्यक्तियों के लिए भी व्यवस्थित थे। शंखस्मृति के अनुसार 'औरस पुत्र को छोड़कर अन्य पुत्रों- दत्तक, क्षेत्रज' आदि की, नाना एवं आचार्य की मृत्यु पर तीन दिन का अशौच रहता है। देश के राजा, आचार्य की पत्नी एवं उसके पुत्रों, ब्रह्मचारी तथा अनूचान (अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करने वाला) की मृत्यु पर एक दिन का अशौच होता है। मामा, शिष्य, ऋत्विक् (यज्ञिय पुरोहित) और उनके बान्धव की मृत्यु पर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा अगले दिन सांयकाल तक) तक अशौच का विधान है।[129]मनुस्मृति में भी इनके विषय में यही विचार प्राप्त होता है।[130]जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति में इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न मत निर्धारित किया गया है। इसमें क्षेत्रज

आदि पुत्रों, गुरु, शिष्य, वेदाङ्ग के प्रवक्ता, मामा एवं क्षोत्रिय (जिसने वेद की एक शाखा का अध्ययन किया है) के लिए एक दिन-रात के अशौच का और राजा के लिए शंखस्मृति के समान उल्लेख मिलता है।[131]

उपर्युक्त अशौच के सभी नियम सामान्य काल में ही व्यवहत होते हैं अन्यथा व्यक्ति के आपद्ग्रस्त होने पर इन नियमों का बलपूर्वक प्रवर्तन नहीं होता, ऐसा धर्मज्ञ दक्ष का निर्देश है।[132]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जन्म एवं मरण अशौचावधि में प्रभावित व्यक्ति व उसके बान्धवजन अशुद्ध हो जाते थे। वे किसी प्रकार के धार्मिक कर्मों (देव, पितरादि) का सम्पादन नहीं कर सकते थे। अशौचावधि की समाप्ति पर कथित उपायों-स्नानादि से शुद्ध होकर ही इन कार्यों के योग्य माने जाते थे। अत: इस अशौच के मूल में कहीं भी घृणा की भावना विद्यमान नहीं थी। शरीरशुद्धि शरीर को शुद्ध रखना व्यक्ति के जीवन की अनिवार्य क्रिया है। इसके अभाव में उसकी समस्त क्रियायें निष्फल हो जाती है। इसलिये महर्षि शंख[133] एवं अन्य स्मृतिकारों[134] ने सदैव शौचाचार में प्रयत्नशील रहने का निर्देश दिया है। यह शुद्धि बाह्य एवं आभ्यन्तर दो प्रकार की कही गई है।[135]

बाह्य शुद्धि

बाह्य शुद्धि में व्यक्ति को शारीरिक रूप से शुद्धि करनी होती थी। जो मिट्टी एवं जल के द्वारा शौच, स्नान, आचमन से तथा स्वच्छ वस्त्र धारण करने से मानी गई थी। शंखस्मृति के अनुसार 'व्यक्ति के नाभि से ऊपर के भाग यदि कीचड़, दूषित जल एवं श्लेष्मा (थूकादि) से मलिन हो गये हैं तो वह स्नान से तत्काल शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। यदि वह मल-मूत्र से निवृत्त होकर, स्नान करके, भोजन की इच्छा होने पर खाकर, थूककर, सोकर, जलों का अवगाहन करके, गली में चलकर तथा वस्त्रों को धारण करके शुद्ध हो गया हो तब भी उसे शुद्धि हेतु फिर से आचमन करना चाहिये। शरीर के गुप्तांगों की पूर्णत: शुद्धि के लिए वह मल-त्याग करने के पश्चात् गुदा में सात बार और मूत्र-त्याग करने पर लिंग में दो बार मिट्टी लगाकर शुद्धि करे। बायें हाथ में बीस बार और दोनों हाथों में चौदह बार व नाखूनों को स्वच्छ करके मिट्टी से तीन बार शुद्धि करे। इसके अतिरिक्त शुद्धि की इच्छा वाले पुरुष को पाँवों पर तीन बार मिट्टी लगाकर शुद्धि करनी चाहिये। एक बार में इतनी मिट्टी लेनी चाहिये, जिससे अंगुलियों के तीन पर्व भर जाएं।[136] जबकि मनु एवं दक्ष ने मिट्टी का एक भाग लिंग पर, तीन भाग मलयस्थान पर, दस बायें हाथ में, सात दोनों हाथों में लगाने को कहा है।[137] जिससे स्पष्ट होता है कि शंख ने मनु एवं दक्ष की अपेक्षा अधिक शुद्धि का विधान किया है। यह शुद्धि मात्र गृहस्थों के लिए थी। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के लिए गृहस्थों की अपेक्षा क्रमश: दुगना, तिगुना और चार गुना बार शुद्धि का विधान था।[138] शंखस्मृति में स्त्री शुद्धि के विषय में कहा गया है कि 'रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नान करने के उपरान्त पति के लिए शुद्ध हो जाती है। दैवकर्म एवं पितृकर्म के लिए वह पाँचवे दिन शुद्ध होती है।[139]

आभ्यन्तर शुद्धि

आभ्यन्तर शुद्धि में व्यक्ति के लिए मानसिक रूप से शुद्ध होना अनिवार्य था। अत: मन के भावों को शुद्ध रखना 'आभ्यन्तर शुद्धि' है।[140] व्यक्ति को ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहिये। यह आन्तरिक शुद्धिव्यक्ति में शास्त्रविहित कर्मों (सद्शास्त्रों के अध्ययन, सत्य, अहिंसा क्षमा, टान तप, आदि) के करने से आती है।[141] जब तक व्यक्ति आन्तरिक रूप से शुद्ध न हो तब तक बाह्य शुद्धि का कोई लाभ नहीं है। अत: इन दोनों ही प्रकार के शौच का पालन करने वाला व्यक्ति शुद्ध होता है, ऐसा दक्ष का विचार है।[142]

द्रव्यशुद्धि

द्रव्यशुद्धि का अभिप्राय है 'किसी द्रव्य या वस्तु से लगे हुए दोष को दूर करना।[143] द्रव्यों के दोष को दूर करने के लिए पृथक्-पृथक् नियमों की व्यवस्था थी। धर्मज्ञों ने द्रव्यशुद्धि के नियमों का पालन करते समय व्यक्ति को अशुद्धि के समय, स्थान, स्वयं अपना, द्रव्य का, द्रव्य के प्रयोजन का, अशुद्धि के कारण एवं अशुद्ध वस्तु की स्थिति का सम्यक् रूप से विचार कर शुद्धि करने का निर्देश दिया है।[144]उन्होंने एक सामान्य नियम को उद्धृत करते हुए यह भी कहा है कि-'द्रव्यों से संलग्न दूषित वस्तु या गन्ध जब तक दूर न हो जाये तब तक जल एवं मिट्टी का प्रयोग करते रहना चाहिये।[145] शंखस्मृति के अनुसार अनेक प्रकार के द्रव्यों एवं उनकी शुद्धि के प्रमुख साधनों का विवेचन निम्न प्रकार से है

विविध प्रकार के पात्रों की शुद्धि

मिट्टी, ताम्र, स्वर्ण, रजत, सीसे, जस्ते, मूंगे आदि से निर्मित पात्रों की शुद्धि के विषय में विशिष्ट नियम थे। शंखस्मृति के अनुसार मिट्टी से बने प्रत्येक पात्र अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाते हैं। लेकिन सुरा, मूत्र, मल, थूक या श्लेष्मा, राध एवं रक्त से दूषित हुए मिट्टी के पात्र दोबारा अग्नि में तपाने से भी शुद्ध नहीं होते। यदि ताम्र, स्वर्ण, रजत के पात्र इन्हीं वस्तुओं के स्पर्श से अशुद्ध हो गये हैं तो वे दोबारा पिघलाकर बनाने से शुद्धि को प्राप्त करते हैं। इनके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से दूषित होने पर केवल जल से शुद्ध हो जाते हैं। विकल्प रूप में ताम्र के पात्रों को अम्ल से भी शुद्ध किया जा सकता है। सीसे एवं जस्ते के पात्रों को अम्ल (तेजाब) से, काँसे एवं लोहे के पात्रों को क्षार (अल्कली) से, जल से प्राप्त मोती, मणि एवं मूंगे से निर्मित तथा सब प्रकार के पत्थरों से निर्मित पात्रों को धोने से, यज्ञपात्रों को हाथ से मांजने से तथा चिकनाई से युक्त पात्रों को गर्म जल से शुद्ध किये जाने का विधान है।[146]यज्ञीय पात्रों को सर्वप्रथम दाहिने हाथ या दर्भ से रगड़ना (पोंछना) चाहिये और तब चमस एवं प्याले यज्ञ में व्यवहृत होने के पश्चात् जल से धोये जाने चाहिये, चरु-स्थाली (जिसमें आहुति के लिए भात की हवि बनायी जाती है), स्रुव (काठ का करछुल जिससे यज्ञीय अग्नि में घृत डाला जाता है) एवं स्रुचि (अर्धवृत-मुखी काठ का करछुल) गर्म जल से शुद्ध करें। स्फ्रय (काठ की तलवार), शूर्प (सूप), गाड़ी (जिसके द्वारा सोम के पौधे लाये गये हैं), काठ का ऊखल (ओखली) एवं मुशल जल से स्वच्छ किये जाने चाहिये।[147] इसके अतिरिक्त तुम्बी आदि फलों (बिल्वों), हड्डियों एवं सींगों से बने पात्रों की शुद्धि गौ के केशों से निर्मित रज्जू या कूची से बताई गयी है।[148] मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में भी इसी प्रकार का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। लेकिन मनुस्मृति में धातुओं एवं पात्रों की शुद्धि के लिए जल के अतिरिक्त भस्म (राख) एवं मिट्टी को और याज्ञवल्क्यस्मृति में भस्मादि साधनों को भी स्थान दिया गया है।[149]

खाद्य पदार्थों की शुद्धि

अशुद्ध फल-सब्जियों एवं अन्नों की शुद्धि के लिए कतिपय नियम थे। शंखस्मृति में उल्लिखित है कि 'साग, मूल, फल एवं दालों या अनाजों की शुद्धि प्रक्षालन से हो जाती है।' लेकिन अनाज आदि पदार्थों के अधिक मात्रा में होने केवल जल-मार्जन करना चाहिये। इसी प्रकार वृक्षों से निकलने वाले स्रावों या रसों-गोंदों, गुड़ों एवं लवणों की शुद्धि के लिए जल-मार्जन ही पर्याप्त है। यह नियम कुसुम्भ एवं कुंकुम की शुद्धि के विषय में भी व्यवहृत होता है।[150] मनु का भी अन्नादि की शुद्धि के विषय में यही विचार है।[151]

भूमि की शुद्धि

महर्षि शंख के मत से गृहों एवं भूमि की शुद्धि झाड़ू लगाने से होती है।[152] जबकि मनु एवं याज्ञवल्क्य ने शंख से कतिपय भिन्न नियम को उद्धृत किया है। मनु ने भूमि शुद्धि के पाँच साधन बताये हैं–सम्मार्जनी (झाड़ू से बुहारना), गोबर से लीपना, जल, गोमूत्र, दुग्धादि का छिड़काव, खोदना (कुछ मिट्टी खोदकर बाहर डाल देना) और उस पर गायों को एक दिन व रात रखना।[153] याज्ञवल्क्य ने मनु कथित साधनों के अतिरिक्त जलाना एवं समय का बीतना को भी सम्मिलित किया है तथा गृहों की शुद्धि झाड़ू लगाने एवं लीपने (गोबरादि) से कही है।[154]

वस्त्रों की शुद्धि

वस्त्रों की शुद्धि जल–प्रक्षालन से मानी गई थी और जिनसे ये निर्मित होते हैं, यथा–ऊन एवं कपास की शुद्धि जल–मार्जन से करने का विधान था।[155] मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों की शुद्धि के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न नियम दिये हैं। उनके अनुसार रेशमी एवं ऊनी वस्त्र ऊसर स्थान की मिट्टी (रेह) से, नेपाली कम्बल रीठे से, छाल से बने वस्त्र बेल के फल से एवं क्षौम, पट या सन से बने वस्त्र श्वेत सरसों के लोप से अथवा जल एवं गोमूत्र से शुद्ध करने चाहिये।[156]जबकि पराशर ने इस प्रकार के वस्त्रों की शुद्धि मात्र जल द्वारा धोने से मानी है।[157]

काष्ठ एवं अस्थि-निर्मित वस्तुओं की शुद्धि

काष्ठ एवं पशुओं की अस्थियों से बनी वस्तुओं की शुद्धि के लिए भी नियमों की व्यवस्था थी। शंखस्मृति के अनुसार 'शय्या, आसन, स्फ्रय (यज्ञवज्र), सूप, गाड़ी, चटाई एवं ईंधन तथा काष्ठ के टुकड़ों को जोड़कर बनाई गई एवं काष्ठ से बनी वस्तुओं की शुद्धि जल छिड़कने से तत्काल हो जाती है। पशुओं के सींगों एवं हाथी के दाँतों से बनी वस्तुओं की शुद्धि सरसों का लेप करके धोने से होती है।[158] मनु ने स्फ्रय, सूप, गाड़ी की शुद्धि जल द्वारा धोने से तथा तृण, काष्ठ एवं पुलाल (भूसा) की शुद्धि जल छिड़कने से और शंख, सींग (भैंसों एवं भेड़ों के) एवं अस्थियों तथा हाथियों के दाँत से बनी वस्तुओं की शुद्धि शंख के समान सरसों के लेप से कही है। साथ ही उन्होंने विकल्प रूप में इनकी शुद्धि गोमूत्र या जल से करने को कहा है।[159] याज्ञवल्क्य ने स्फ्रय, सूपादि की शुद्धि मनुवत् मानी है और सींग, अस्थियों आदि से बनी वस्तुओं की शुद्धि छीलने से बतायी है।[160]

स्वतः शुद्ध वस्तुएँ या पदार्थ

शंखस्मृति में कुछ ऐसी वस्तुओं का भी उल्लेख मिलता है जो स्वतः शुद्ध मानी जाती थी अर्थात् जिनको शुद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। अपवित्र पदार्थों (वर्ण, गन्ध व दुष्ट रसों) से रहित भूमि एवं शिला पर स्थित जल, नदी एवं खान में बहता हुआ जल, विक्रय के लिए फैलायी गई वस्तुएँ, बकरियों एवं अश्वों का मुख, गऊ के मुख को छोड़कर अन्य शरीर भाग तथा घरेलू बिल्ली सदैव शुद्ध होती है। अपनी शय्या, भार्या, बच्चे, वस्त्र, यज्ञोपवीत एवं कमण्डलु–ये सब अपने प्रयोग के लिए शुद्ध होते हैं। यदि कोई अन्य से लेकर इनका प्रयोग करता है, तब उसके लिए अशुद्ध होते हैं। सम्भोगरत स्त्रियों का मुख, गाय दुहते समय बछड़ों का मुख, वक्ष पर फल खाते हुए पक्षियों का मुख तथा शिकार में श्वों का मुख सदैव शुद्ध होता है अर्थात् गाय का दूध दुहते समय बछड़ा दुग्धपान करता है तो उससे थन या दूध अशुद्ध नहीं माना जाता, किन्तु अन्य समय पर बछड़े के मुख से स्पर्श करने पर अशुद्ध माना जाता है। शुक (तोता), काक (कौआ) आदि पक्षियों के द्वारा यदि वृक्ष पर लगे फल खाए या काटे जाएं अथवा खाकर या काटकर नीचे गिराए जाएं तो वे अशुद्ध नहीं होते, यदि फल गिरने के पश्चात् पक्षी उसको खाता है तो वह अशुद्ध होता है। इसी प्रकार यदि श्व (कुत्ता) शिकार के समय किसी पशु आदि को

काटता है तो वह अशुद्ध नहीं समझा जाता, किन्तु अन्य समय में श्वों के मुख से स्पर्श होने पर अशुद्ध माना जाता है।[161] इसके अतिरिक्त शंख ने एक अन्य स्थल पर कहा है कि 'वह पदार्थ, जो वस्तु में स्वाभाविक रूप से लगे हुए मल को या किसी अशुद्ध वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न मल को दूर करता है, वह शुद्ध है।[162] शंख-लिखित ने तो अशुद्ध को शुद्ध करने वाली वस्तुओं की भी सूची दी है-जल, मिट्टी, इंगुद, अरिष्ट (रीठा), बेल का फल, चावल, सरसों का उबटन, क्षार (रेह, सोडा), गोमूत्र, गोबर, एक स्थान पर संग्रह की हुई वस्तुएँ तथा प्रोक्षण (जलमार्जन)-ये स्वत: शुद्ध ही हैं।[163] अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी स्वत: शुद्ध वस्तुओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। साथ ही उन्होंने शंखस्मृति से भिन्न कुछ स्वत: शुद्ध वस्तुओं को भी उद्धृत किया है। मनु ने तीन प्रकार की वस्तुओं को ब्राह्मणों के लिए शुद्ध कहा है-जिसकी अशुद्धि स्वयं आँखों से नहीं देखी गयी हो, अशुद्धि का सन्देह होने पर जिस पर जल छिड़क दिया गया हो एवं ब्राह्मण के द्वारा पवित्र कहे जाने पर । इसके अतिरिक्त नाभि से ऊपर की सभी इन्द्रियाँ- कर्ण, नेत्र, नासिका, मुखादि, मक्खी, मुख से निकली छोटी-छोटी बूंदे, छाया (परछाई), गौ, अश्व, सूर्य की किरणें, धूलि, भूमि, वायु तथा अग्नि को स्पर्श में शुद्ध समझना चाहिये।[164]याज्ञवल्क्य[165] एवं पराशर[166] का भी यही कथन है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उस काल में अशौच, शरीरशुद्धि तथा द्रव्यशुद्धि सम्बन्धी, जो विधान किये गये थे। वे किसी वर्ण-विद्वेष व मानसिक कठोरता के कारण नहीं बनाये गये थे अपितु उनके मूल में मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं स्वच्छता की धारणा मुख्य थी। जो व्यक्ति इनका पालन करता है, उसकी निश्चय ही अन्तरात्मा शुद्ध एवं पवित्र होती है और वह ब्रह्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति के योग्य बनता है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति के लिए शरीर व मन तथा प्रयुक्त वस्तुओं (साधनों) का शुद्ध होना अनिवार्य है।

शुद्धि का आधुनिक दृष्टि से विवेचन

शंखस्मृति काल में शुद्धि को मानवीयाचरण में वृद्धि तथा अशुद्धि को पतन का हेतु मानते हुए, जनन-मरण के अशौच के साथ-साथ शरीर, मन, स्थल, पात्रों तथा पूजा सामग्री आदि की पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया गया था। जनन-मरण की अशुचिता पर होम-जप-दान-स्वाध्याय इत्यादि देवार्चन एवं पितृकर्म करने का निषेध किया गया था। अशुचिता की कालावधि पूर्ण होने के अनन्तर ही इन धार्मिक कृत्यों का सम्पादन किया जा सकता था। वर्तमान में ऐसे नियमों या आचरणों के प्रति नगरों तथा शिक्षितों की मनोदशा या पालन, श्रद्धा एवं विश्वास नहीं रहा है, केवल कुछ सामाजिक बन्धन, लोक-मर्यादा और जन-परिवाद के कारण इनका यत्किञ्चित् पालन किया जा रहा है। आज प्रचलित शुद्धयशुद्धि को भारतीय पंचाङ्ग और कुछ विद्वद्जनों के ग्रन्थों के माध्यम से समझा जा सकता है।

तत्कालीन समय में जनन-मरण विषयक 'अशौच' सभी वर्गों के लिए था, उसमें भी अग्निहोत्री और वेदज्ञ के लिए भिन्न था। शुद्धि की अवधि भी पृथक्-पृथक् थी। वर्तमान में 'जातिप्रथा' होने के कारण ऐसा सूतक प्रचलित नहीं है और न ही किसी वर्ण या जाति में सूतक भेद का पालन किया जाता है। सामान्यत: जननाशौच में दस दिन तथा मरणाशौच में दसवें एवं तेरहवीं के अनन्तर या कुल परम्परा व देशाचारानुसार पालन करते हैं।

जननाशौच में गर्भिणी स्त्री का चतुर्थ माह में गर्भस्राव (गर्भनष्ट) होने की अवस्था में स्त्री के लिए सूतक उतने ही दिन का रहता था, जितने माह का गर्भनष्ट होता था। आज तीन माह के गर्भस्राव पर माता को तीन दिन तथा चतुर्थ माह के गर्भस्राव पर चार दिन का सूतक लगता है और परिवारजन स्नानमात्र से पवित्र हो जाते हैं।[167] डॉ. अशोक कुमार गौड़ वेदाचार्य ने

अपने ग्रन्थ 'पौरोहित्य कर्म-विधि' में इस विषय पर कहा है कि-प्रथम, द्वितीय, तृतीय माह में गर्भस्राव होने पर स्त्री को त्रिरात्र तथा चतुर्थ माह में होने पर अहोरात्र का अशौच होता है। पितादि की स्नानमात्र से शुद्धि होती है। उन्होंने पंचम व षष्ठ मास में गर्भपात होने पर स्त्री के लिए क्रमशः पाँच दिन व छः दिन का तथा पिता आदि सपिण्डजन के लिए त्रिरात्र का अशौच बताया है।[168] भ्रूण के जीवित एवं मृतोत्पत्ति के समय वर्णक्रम से दस, बारह, पन्द्रह व तीस दिन का अशौच निर्धारित था। आज भी भारतीय पंचाङ्ग में वर्णक्रम से इसी परम्परा को मान्यता दी गई है।[169] लेकिन वर्तमान सरकार की ओर से नगर, उपनगर तथा ग्राम स्तर पर प्रसूतिगृहों की स्थापना हो जाने, शिक्षा प्रसार तथा रूढ़िवादिता से पृथक् कार्य करने की भावना आदि के कारण इस युग में शिथिलता आने लगी है। आज जननाशौच दस दिन का ही रहता है[170]

स्त्री के द्वारा पितृगृह में पुत्री को जन्म देने पर एक दिन के अशौच का विधान था। जो स्त्री प्रमादवश निम्न वर्ण के पुरुष से बालक को जन्म देती थी, उसके लिए जीवनपर्यन्त अशौच माना जाता था। आज इस प्रकार की कोई धारणा समाज में विद्यमान नहीं है। इन दोनों ही अवस्थाओं में भर्तृपक्ष (पतिपक्ष) के नियमानुसार भर्तृपक्ष वालों को ही जन्मसूतक लगता है।[171] प्रथम प्रवृत्त जनन सूतक के अन्तर्गत, दूसरे जनन सूतक के प्रवृत्त होने पर पूर्वप्रवृत्त सूतक की शुद्धि के साथ उत्तरप्रवृत्त सूतक की निवृत्ति हो जाती थी। अब भी ऐसी स्थिति में यही विधान है। यह नियम मरणाशौच में भी व्यवहृत है।[172]जननाशौच के रहते हुए मरणाशौच के प्रारम्भ होने पर मरणाशौच की पूर्णावधि के साथ जननाशौच से शुद्धि मानी गई थी। आज भी इसी नियम का अनुसरण किया जा रहा है। मृतक की तेरहवीं होने पर जनन सूतक का समापन हो जाता है।[173] इसी प्रकार मरणाशौच में यदि जनन सूतक प्रवृत्त हो जाता था तो जननाशौच की समाप्ति के समय ही मरणाशौच से शुद्धि हो जाती थी, किन्त वर्तमान में इसके विपरीत मृतक की तेरहवीं के समापन के साथ ही जननाशौच की अवधि पूर्ण मान ली जाती है।[174] यह तेरहवीं कुल-परम्परा या देशाचारानुसार तेरह, सोलह या सत्रह दिन की हो सकती है। आज लोग अपनी सुविधानुसार तीसरे, पाँचवें या सातवें दिन भी तेरहवीं कर लेते हैं पर यह कोई शास्त्र विधान नहीं है। इसलिये तेरहवीं उचित समय पर की जानी चाहिये।[175]

जननाशौच के समान ही 'मरणाशौच' भी वर्णानुसार अवस्था भेद से था। जो अग्नि, अनशन, जल, विद्युत से मरने वाले, आत्महत्या, पतित, संन्यासी, व्रतधारी, ब्रह्मचारी, राजा आदि को नहीं लगता था। हाँ, संन्यासी के द्वारा किसी अन्य के अशौच में भोजन करने पर अशौचावधि के पूर्ण होने तक अशौच का विधान था और व्यक्ति के लिए अन्य के अशौच में भोजन करने का भी निषेध था। वर्तमान में वर्णानुसार अशौच का पालन नहीं किया जाता है। किसे अशौच ग्रस्त जानना चाहिए तथा किसे नहीं ऐसी कोई विस्तृत तालिका निर्धारित नहीं है। राजा अब समाज में है ही नहीं तब उसका प्रश्न ही नहीं उठता और संन्यासी आदि व्यक्तियों की भोजन विषयक बातों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। पी.वी. काणे महोदय के अनुसार 'बंगाल को छोड़कर भारत के अधिकांश सभी भागों में शूद्रों एवं अन्य वर्गों में मृत्यु का अशौच केवल दस दिनों का मनाया जाता है।[176]

शंखस्मृति में बालक के जन्म के पश्चात् दस-बारह दिन में मृत्यु होने पर कोई विधान नहीं मिलता है, किन्तु वर्तमान में यदि उत्पन्न हुए शिशु की दस दिन के अन्तर्गत मृत्यु हो जाती है तो माता को दस दिन का तथा पिता व सपिण्डजन को दिन का अशौच रहता है।[177] कुछ विद्वानों के मत से नालच्छेदन के उपरान्त नामकरण के पूर्व अर्थात् बारह दिन के भीतर बालक के मरण पर बन्धुवर्ग स्नानमात्र से निवृत्त हो जाते हैं। माता-पिता को पुत्र के मरण पर त्रिरात्र का तथा कन्या के मरण पर एक

दिन का अशौच होता है।[178] उस समय दन्तोत्पत्ति के पूर्व (षष्ठ-सप्तम मास में) मरने वाले बालक के सपिण्डों (सपिण्डता सात पीढ़ी तक रहती है) के लिए शीघ्र शुद्धि नियत थी और ऐसे बालक का दाह संस्कार व उदकदान नहीं होता था। यदि बालक की मृत्यु चूडाकर्म एवं उपनयन संस्कार से पूर्व हो जाती थी तो मृतक बालक के सपिण्डजन को कम से एक दिन-रात एवं तीन दिन तक अशुद्धि रहती थी। वर्तमान में दन्तोत्पत्ति के पूर्व बालक की मृत्यु होने पर परिवारजन तीन दिन में[179], बन्धुवर्ग स्नानमात्र से, माता-पिता पुत्र की मृत्यु पर तीन रात्रि तथा कन्या की मृत्यु पर एक दिन में शुद्ध हो जाते हैं[180] तथा बालक की दाहादि क्रिया नहीं की जाती। तीन वर्ष के उपरान्त उपनयन से पूर्व बालक का चूडाकर्म हुआ हो या न हुआ हो, उसके मरण में पित्रादि सपिण्डजनों को तीन दिन का अशौच होगा। यदि चूडाकर्म न हुआ हो तो दाह और खनन में विकल्प है और यदि हो गया है तो दाह का विधान है।[181] भारतीय पंचाङ्गानुसार तीन वर्ष में चूडाकर्म होने पर बालक का दाह संस्कार करना चाहिये और उसके सपिण्डजनों को तेरहवीं तक अशौच रहेगा।[182] इस विषय में पं. श्रीजोषणरामजी ने कुछ भिन्न मत उद्धृत किया है। उनके अनुसार माता-पिता को तो तीन दिन और सपिण्ड को एक दिन का मरणाशौच लगेगा। उन्होंने उपनयन संस्कार के पूर्व मरने पर शंखवत् तीन दिन में शुद्धि कही है। इसके अनन्तर अर्थात् आठ वर्ष (जो ब्राह्मण बालक के उपनयन का काल है) के बाद मरने पर दस दिन का अशौच होगा।[183] वैसे तो लोग इस आयु के बालक का दाह संस्कार करते हैं और तेरहवीं तक अशौच मनाते हैं। तेरहवीं के पश्चात् कैसा भी अशौच नहीं रहता है। पीढ़ियों के क्रम में भी अब मरणाशौच का परित्याग किया जा चुका है। आज तत्काल और विलम्ब से शुद्धि का प्रश्न ही नहीं है। सब लोग कुल परम्परा के अनुसार मृतक अशौच मानते हैं।

अविवाहित कन्या व शूद्र के मरण में सपिण्डजन तीन दिनों में शुद्धि को प्राप्त करते थे। यदि अविवाहित शूद्र की मृत्यु सोलह वर्ष की अवस्था के अनन्तर होती थी तो एक मास में शुद्ध हो जाते थे। वर्तमान में अविवाहित कन्या के सगाई से पूर्व मरने पर पितृपक्ष एवं भर्तृपक्ष को तीन दिन का[184]और शूद्र के मृत्यु दिन से तेरहवीं तक अशौच होता है। अविवाहित रजस्वला कन्या की मृत्यु पिता के गृह होने पर आजीवन अशौच रहता है, ऐसी धारणा थी। जबकि आज पितृपक्ष तेरहवीं के समय अशौच से निवृत्त हो जाता है।[185] यदि अविवाहित कन्या की वाग्दान (विवाह तय करना) के पूर्व मृत्यु हो जाती थी तो एक दिन-रात में शुद्धि होती थी। इसके पश्चात् मृत्यु होने पर भर्तृपक्ष व सपिण्ड-पितृपक्ष वालों को अशौच तीन दिन तक रहता था। आज वाग्दान के पूर्व कन्या-मरण में त्रिपुरुष सपिण्डों को एक दिन एवं माता-पिता को त्रिरात्र का अशौच होता है। वाग्दानोत्तर विवाह के पूर्व कन्या-मरण में शंखवत् भर्तृपक्ष एवं पितृपक्ष के सपिण्डजन को तीन दिन का ही अशौच रहता है।[186] जो लोग इन नियमों का पालन नहीं करते वे तेरहवीं तक अशौच मनाते हैं।

विवाहिता स्त्री के पितृगृह में रहते हुए मरण पर तथा अपने पति को छोड़ने वाली एवं जो दूसरे की पत्नी रह चुकी है, उसके मरण पर तीन दिन में शुद्धि का विधान था। आज पितृगृह में मृत्यु पर पितृपक्ष को तीन दिन का व भर्तृपक्ष को तेरहवीं तक तथा अन्य स्त्रियाँ जिस घर में गई हैं, वहाँ भर्तृपक्ष वालों को तेरहवीं तक अशौच रहता है और माता-पिता स्नानमात्र से शुद्ध हो जाते हैं।[187]

अनुलोम-प्रतिलोम विवाह की स्थिति में जहाँ वर्णक्रमानुसार अशौच था वहीं आज इस प्रकार का कोई विधान नहीं है। स्त्री या पुरुष अपनी इच्छानुसार उच्च जाति वाले से विवाह करें या निम्न जाति वाले से, अशौच कुल परम्परा या देशाचारानुसार तेरहवीं की अवधि तक माना जाता है।

प्रवास में रहने वाला व्यक्ति यदि अपने सपिण्डजनों के जनन व मरण का समाचार सुनता था तो वह अशौचावधि के दस दिनों में से शेष दिनों में, अशौचावधि के पूर्ण होने पर तीन दिनों में तथा एक वर्ष के पश्चात् सूचना मिलने पर स्नानमात्र करने पर अशौच से निवृत्त हो जाता था। वर्तमान में समाचार मिलने पर तो शेष दिनों के ही अशौच पालन का, पर अवधि पूर्ण होने या वर्षभर अनन्तर सूचना मिलने पर एक दिन के उपवास व स्नानमात्र से शुद्धि का विधान है।[188] कुछ लोग तो इसका पालन न करके मृतक सपिण्ड या सगोत्री की सूचना मिलने पर खेद व्यक्त करके ही उसके प्रति अपने कर्त्तव्य की 'इतिश्री' समझ लेते हैं।

औरस पुत्र को छोड़कर दत्तक, क्षेत्रज आदि पुत्रों, नाना, आचार्य की मृत्यु पर तीन दिनों का एवं आचार्य की पत्नी व उसके पुत्रों, देश के राजा तथा ब्रह्मचारी की मृत्यु पर एक दिन का अशौच निर्धारित था। वर्तमान में दत्तक पुत्र के विषय में डॉ. अशोक कुमार गौड़ वेदाचार्य का मत है कि उपनीत दत्तक पुत्र के जनक और पालक पिता को त्रिरात्र और सपिण्ड को एक दिन का अशौच होता है।[189] यदि सगोत्र सपिण्ड दत्तक हो तो दस दिन ही अशौच रहता है। जबकि अधिकांशत: आज पुत्रों की अवस्था भेद से व तेरहवीं तक अशौच माना जाता है। नाना (मातामह) के मरण में दौहित्र व दौहित्री को, यज्ञोपवीत होने पर तीन दिन का, न होने पर एक दिन का[190] और आचार्य के मरण पर उसका दाहकर्म करने वाले शिष्य को दस रात्रि का एवं न करने वाले शिष्य को तीन रात्रि का अशौच होता है। आचार्य की पत्नी एवं उसके पुत्रों के मरण में गुरुकुल स्थित शिष्य को त्रिरात्र और स्वगृह स्थित शिष्य को एकरात्र का अशौच रहता है।[191] आज राजा के स्थान पर राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री आदि हैं। उनके मरण पर देशभर में अवकाश कर दिया जाता है और सभी जन दो मिनट का मौन रख या शोक अभिव्यक्त कर श्रद्धांजलि देते हैं, लेकिन अशौच नहीं लगता। हाँ, राष्ट्रपति आदि के सपिण्डजन को तेरहवीं तक अवश्य अशौच रहता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी के मरण में पितृपक्ष को तेरहवीं तक अशौच लगेगा। यदि गुरुकुल स्थित आचार्य आदि दाह की सम्पूर्ण क्रिया करते हैं तो वे दाह के अनन्तर स्नानमात्र हो जाएंगे. उन्हें अशौच नहीं होगा।[192]उस समय मामा, शिष्य, ऋत्विक (यजिय परोहित) एवं उनके बन्धुजन के मरण पर पक्षिणी रात्रि (डेढ दिन के अशौच का विधान था। आज मामा के मरण पर भागिनेय (भगिनीपत्र) को एक का अशौच लगता है[193]। डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य ने मामा विषयक अशौच को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि–अनुपनीत मामा के मरण पर भागिनेय को करात्र का और उपनीत मरण पर भागिनेय व भागिनेयी (भगिनीपुत्री) को पक्षिणी अशौच होता है।[194] शिष्य की मृत्यु पर अध्यापक शोक अभिव्यक्त व स्नानमात्र से शद्ध हो जाते हैं। ऋत्विक् की मृत्यु पर उसके सपिण्डजन को अशौच होता है, अन्य किसी को नहीं। इन सभी के बान्धवजनों को सम्बन्धानुसार अशौच लगता है।[195]इनके अतिरिक्त वर्तमान में कुछ और नियम विहित हैं, जिनका उल्लेख शंखस्मृति में उपलब्ध नहीं होता है। पं. श्रीजोषणरामजी पाण्डेय के अनुसार किसी कारणवश मृत्युदिवस के दिन दाह संस्कार न हो सके और किसी दूसरे दिन दाह संस्कार करना पड़े तो भी मृत्युदिन से ही गणनाकर पूरे दस दिन का अशौच लगता है, किन्तु अग्नि- होत्री के मरने पर दाह संस्कार के दिन से ही दस दिन का अशौच लगता है। घर में जब तक शव रहे तब तक वहाँ अन्य गोत्रियों को भी अशौच रहता है। एक जाति के व्यक्ति यदि किसी शव को कन्धा देते हैं, उसके घर में रहते हैं, वहाँ भोजन करते हैं तो उन्हें भी दस दिन का अशौच रहेगा। यदि वे केवल भोजनमात्र करते हैं या मात्र गृहवास करते हैं तो उन्हें तीन रात का अशौच लगेगा। यदि केवल शव को कन्धा देते हैं तब उन्हें एक दिन का अशौच लगता है। दिन में शव का दाह संस्कार होने पर शवयात्रा में सम्मिलित होने वाले लोगों को सूर्यास्त होने के पूर्व तक अशौच रहता है। सूर्यास्त होने पर

नक्षत्र–दर्शन के अनन्तर स्नान आदि करके यज्ञोपवीत बदल देना चाहिये। रात्रि दाह संस्कार होने पर सूर्योदय के पूर्व तक का अशौच होता है।[196]

अशौच के उपरान्त शरीरशुद्धि'को स्थान दिया गया था। जिसका वर्तमानकालीन विवेचन आश्रम–अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

अब शुद्धिक्रम में अन्तिम स्थान 'द्रव्यशुद्धि' का आता है। द्रव्यशुद्धि अर्थात् किसी प्रकार की वस्तु से लगे दोष को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग किया जाता था। वर्तमान समय में तत्काल की अपेक्षा इस क्षेत्र में वृद्धि हुई है। आज विविध प्रकार के पात्रों, खाद्य पदार्थों, भूमि, वस्त्रों, काष्ठ एवं अस्थि–निर्मित वस्तुओं की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के रसायनों व उपकरणों का प्रयोग किया जा रहा है।

शंखस्मृतिकाल में मिट्टी से विनिर्मित पात्रों की शुद्धि तपाने से (यदि वे सुरा, मल–मूत्र, थूक, राध व रक्त से मलिन न हुए हों तो), ताम्र, स्वर्ण, रजत के पात्र सुरादि से दूषित होने पर पिघलाकर बनाने व इनसे दूषित न होने पर जल से, ताम्र, सीसे, जस्ते के पात्र अम्ल (तेजाब) से, काँसे, लोहे के पात्र क्षार (अल्कली) से, मोती, मणि, मूंगे व सब प्रकार के पत्थरों से बने पात्र धोने से, यज्ञपात्रों की मांजने व चिकनाईयुक्त पात्रों की गर्मजल से मानी गई थी। आधुनिक काल में इन सभी पात्रों की शुद्धि निम्न प्रकार से की जाती है

- मिट्टी के पात्रों की सफाई सामान्यत: स्वच्छ जल से धोकर, अग्नि में तपाकर, लाल रंग करके व कोमल कूर्चिका से की जाती है। जो मिट्टी से निर्मित पात्र दीर्घकाल तक पृथ्वी की सतह में दबे रहते हैं उनकी सफाई के लिए स्वच्छ जल एवं कूर्चिका के अतिरिक्त विनायल एसीटेट (सफाई से पूर्व), सिल्वर नाइट्रेट तथा बेरियम क्लोराइड का प्रयोग किया जाता है।[197]
- ताम्र एवं पीतल के पात्रों की शुद्धि पीताम्बरी पाउडर व गर्म राख से रगड़कर मांज लेने पर हो जाती है। यदि इन पात्रों पर दाग पड़े हों तो अम्ल–नींबू, सिरका, इमली, ऑक्सैलिक अम्ल, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का आवश्यकतानुसार प्रयोग कर स्वच्छ कर लेना चाहिये।[198]
- स्वर्ण पात्रों को डिटरजेन्ट पाउडर या हाइड्रोक्लोरिक एसिड के सान्द्र घोल, अमोनियम क्लोराइड, अमोनियम घोल व फारमिक एसिड से साफ किया जाता है। स्वर्ण निर्मित वस्तुओं में चाँदी, ताम्र जैसी धातुओं का मिश्रण साधारणत: किया जाता है। इसलिये यदि स्वर्ण के पात्रों की चमक का क्षरण चाँदी के कारण हुआ है तब उसके लिए अमोनियम क्लोराइड और यदि ताम्र के मिश्रण से हुआ है तो फारमिक एसिड या अमोनियम के घोल से स्वच्छ किया जाता है।[199]
- रजत के पात्रों की शुद्धि गन्धक के तेजाब, स्वच्छ जल, अमोनियम अम्ल एवं एसिटिक एसिड के घोल द्वारा की जाती है। अमोनियम अम्ल का प्रयोग तब होता है जब उन (पात्रों) में सिल्वर क्लोराइट की मात्रा बढ़ने पर चमक पर प्रभाव पड़ा हो। इन रसायनों के अतिरिक्त चोकर या साबुन के पानी से स्वच्छ करके, शीघ्र नरम कपड़े से पोंछकर[200] तथा दाँतों को साफ करने वाले दन्तमंजन– कॉलगेट आदि से रजत पात्रों को स्वच्छ किया जा सकता है।

- सीसे व चीनी मिट्टी के बने पात्रों को सामान्यरूप से गर्मजल एवं साबुन के घोल या सोडे के घोल से साफ किया जाता है। जो इस धातु से विनिर्मित वस्तुएँ हजारों वर्षों से पृथ्वी में दबी रहती हैं उनकी स्वच्छता के लिए कोमल कूर्चिका, चारों ओर से बन्द पात्र, कास्टिक सोडा, गन्धक व विनॉयल एसीटेट के घोल का प्रयोग होता है।[201]
- काँसे के पात्रों की शुद्धि कटे हुए आधे नींबू पर नमक छिड़ककर की जाती है। इससे जंग लगी वस्तुओं को भी साफ किया जा सकता है।[202] लेकिन काँसे के पुरातन वस्तुओं के लिए सिल्वर आक्साइड और लोहे की जंग लगी वस्तुओं के लिए सोडियम कार्बोनेट, जिंक की शीट, आशुत जल व सिल्वर आक्साइड नामक रसायन उपयोग में लाये जाते हैं।[203]
- मोती या मोती से बनी वस्तुओं को मलमल के कपड़े[204], चावल के मांड, अरीठे के पानी, मूली में खड्डा बनाकर और उसमें मोती भरकर व खड्डे के शेष भाग में बूरा (शक्कर) भरकर एवं पुराने मोती को हाइड्रोजन ऑक्साइड तथा ईथर के द्वारा साफ किया जाता है।[205]
- मूंगे व उससे विनिर्मित वस्तुओं की स्वच्छता के लिए इथाइल अल्कोहल का प्रयोग होता है।[206]
- पत्थरों (संगमरमर, सेलखड़ी एवं चूना पत्थर आदि) से बने पात्रों या वस्तुओं की शुद्धि हेतु अमोनिया द्रव्य युक्त जल, कठोर कूर्चिका, अम्ल विलयनसाइट्रिक एसिड एवं एसीटिक एसिड का उपयोग होता है।[207]साधारण पत्थरों से बने पात्रों को तो जल से ही स्वच्छ किया जा सकता है।
- यज्ञपात्रों की शुद्धि आज भी स्वच्छ जल व गर्म जल (चिकनाईयुक्त पात्र) से धोने पर ही मानी जाती है।
  तत्कालीन समय में खाद्य पदार्थों–साग, मूल, फल एवं दालों या अनाजों की शद्धि जल से, भूमि की झाड़ू लगाने से तथा वस्त्रों की शुद्धि जल–प्रक्षालन से एवं जिनसे ये वस्त्र विनिर्मित (ऊन, कपास आदि) होते हैं, उनकी शुद्धि जल मार्जन से किये जाने का विधान था।
- आज खाद्य पदार्थों की शुद्धि जल द्वारा ही की जाती है और अनाज इत्यादि को छाकर, फटककर साफ कर दिया जाता है।
- भूमि को शुद्ध करने के लिए धार्मिक कार्यों में गाय के गोबर से लीपा व गंगाजल का प्रयोग किया जाता है।[208] वैसे तो सामान्यत: झाड़ू लगाकर फिनायल– युक्त जल से धोकर स्वच्छ कर लिया जाता है।
- विभिन्न प्रकार के वस्त्रों की शुद्धि मुख्यत: दो प्रकार से की जाती है–सामान्य धुलाई और शुष्क धुलाई (Dry Cleaning)। इनमें अनेक रासायनिक साधनों का उपयोग किया जा रहा है। सामान्य धुलाई जल, साबुन एवं सोडे से की जाती है, यथा–सूती कपड़े, साधारण कपड़े धोने वाले साबुन से रगड़कर ठण्डे पानी से धोये जाते हैं। फिर किसी बर्तन में उन्हें उबाला जाता है। लेकिन रंगीन कपड़े नहीं उबाले जाते। कपड़े चमकदार व साफ दिखे इसके लिए कलफ व नील लगाकर सुखाया जाता है। ऊनी एवं रेशमी कपड़ों को लक्स साबुन के ठण्डे घोल में भिगोकर स्वच्छ किया जा सकता है।[109] भारत में धोबी सज्जी मिट्टी का व्यवहार करते हैं, जिसका सक्रिय अवयव सोडियम कार्बोनेट होता है। सूती वस्त्रों के लिए यह धुलाई उचित है पर ऊनी, रेशमी, रेयन और इसी प्रकार के अन्य वस्त्रों के लिए नहीं। इसका कारण ऐसी धुलाई से वस्त्रों के रेशे कमजोर हो जाते हैं और यदि कपड़ा रंगीन है तो रंग भी मलिन (फीका) हो जाता है। ऐसे वस्त्रों की धुलाई सूखी रीति से अदाह्य विलायकों–कार्बन टेट्राक्लोराइड, ट्राइक्लोरोएथेन, परक्लोरोएथिलीन तथा अन्य हैलोजनीकृत हाइड्रोकार्बनों की सहायता से की जाती है। इनसे पूर्व पेट्रोलियम विलायकों–नैपथा, पेट्रोल, स्टीडार्ट आदि

प्रयुक्त किये जाते थे। लेकिन अति ज्वलनशील होने के कारण इनसे आग लगने की सम्भावना रहती थी। इसलिये इनका प्रयोग कम किया जाने लगा। इन विलायक-प्रक्रिया से तेल, चर्बी, मोम, ग्रीज, धूल, मिट्टी, राख, पाउडर, कोयले आदि के कण निकल जाते हैं। केवल वस्त्र ही नहीं वरन् घरेलू सजावट के साज-समान भी सूखी रीति से स्वच्छ किये जाते हैं। सूखी धुलाई की कला अब बहुत उन्नति कर गई है। इससे धुलाई शीघ्र व अच्छी होती है। वस्त्रों के रेशों व रंगों को कोई क्षति नहीं पहुँचती और न वस्त्रों में सिकुड़न होती है। वस्त्र भी देखने में चमकदार व छूने में कोमल प्रतीत होते हैं। विशेष रूप से ऊनी कम्बल आदि के लिए यह अति उपयोगी है। वस्त्रों की अन्तिम धुलाई इसी पर निर्भर है।[110]

आज ऊन की शुद्धि के लिए भी विशेष विधि अपनायी जाती है, यथा-ऊन को गुनगुने पानी में भिगोकर तर कर दिया जाता है, जिससे भेड़ का सूखा पसीना, बालू व धूलि अलग हो जाए। यह प्रक्रिया दो या तीन बार की जाती है। इसके बाद उसे एक या दो बार साबुन के घोल में धोया जाता है। अन्त में निर्मल जल में धोकर स्वच्छ कर लिया जाता है। इस रीति से प्राकृतिक मल हट जाता है, किन्न कुछ वानस्पतिक पदार्थ ऊन में मिश्रित होते हैं, उनको निकालने के लिए गायक के हल्के घोल में भिगोया जाता है। फिर उसे निकालकर गर्म हवा से 250° फारेनहाइट तक गर्म कर दिया जाता है। अम्ल का ऊन पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता, उससे तो बीजादि के कटिले रोएं जलकर अलग हो जाते हैं।[111]

उस समय काष्ठ से निर्मित वस्तुओं-शय्या, आसन, यज्ञवज्र, गाड़ी आदि की शुद्धि जल छिड़ने से मानी गई थी। पशुओं के सिंगों एवं हाथी के दाँतों से बनी वस्तुओं की शुद्धि सरसों का लेप करके धोने से तथा तुम्बी आदि फलों, हड्डियों एवं सीगों से बने पात्रों की शुद्धि गौ के केशों से निर्मित रज्जू या कूची से होती थी।

- वर्तमान में काष्ठ से बनी वस्तुओं के लिए अलसी के तेल अथवा स्पिरिट का प्रयोग किया जाता है जिससे उनमें चमक आती है।[112] इसके अतिरिक्त प्राप्त अति पुरातन काष्ठ वस्तुओं को नमी अवशोषित करने के कारण से लकड़ी के बुरादे, कागज की लुग्दी, कोयले के धुएँ, अजवाइन के सत से परिरक्षित करके, फिर उन्हें स्वच्छ जल से धोकर पॉलिविनायल एसीटेट के 10: घोल का प्रलेप किया जाता है। इन पर बने धब्बों को चाकू से खुरचकर रासायनिक प्रलेप की क्रिया अपनायी जाती है।[113]
- पशुओं की हड्डियों से विनिर्मित वस्तुओं को कोमल कूर्चिका,पॉलिविनायल एसीटेट, ऐसेटिक एसिड, आशुत जल, एल्कोहल एवं ईथर रसायनों की सहायता से साफ किया जाता है। इनमें से पॉलिविनायल एसीटेट व ऐसेटिक एसिड को छोड़कर अन्य रसायनों के साथ वेडाक्रिल-277, विनामुल एवं नॉयलॉन का प्रयोग हाथी दाँत से निर्मित वस्तुओं को साफ करने के लिए होता है।[114] उपर्युक्त वर्णित सभी प्रकार की शुद्धि में प्रयुक्त रसायनों व उपकरणों का उपयोग पात्रों व वस्तुओं की आवश्यकतानुसार ही किया जाता है।

  तत्कालीन समय में कुछ वस्तुएँ स्वत: शुद्ध मानी जाती थी, यथा-गन्धरहित भूमि, शिला पर स्थिति जल, नदी व खान में प्रवाहित जल, विक्रय के लिए फैलायी गई वस्तुएँ, बकरियों व अश्वों का मुख, बिल्ली, अपनी शय्या, भार्या, बच्चे, वस्त्र, यज्ञोपवीत, कमण्डलु, गाय दुहते समय बछड़ों का मुख, वृक्ष पर फल खाते हुए पक्षियों का मुख तथा शिकार के समय श्वों का मुख इत्यादि। वर्तमान में यह ज्ञात होते हुए भी कि ये वस्तुएँ शुद्ध कही गई हैं तथापि इनकी स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि वर्तमान में शुद्धि के अन्तर्गत तत्कालीन समय की अपेक्षा अशौच विषयक नियमों में क्षीणता आयी है। अशौच में स्मृति विहित कुछ नियमों का परिवर्तन के साथ अनुसरण किया जा रहा है तो कुछ नियम समाप्त हो गये हैं। जबकि शरीरशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि के क्षेत्र में अधिक उन्नति हुई है। शरीर, स्थल, पात्रों तथा वस्तुओं की स्वच्छता के लिए प्रयुक्त होने वाले आधुनिक उपकरण या रसायन इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

सन्दर्भग्रन्था:

1. या.स्मृ., 1/20 'सुधा' व्याख्या में उद्धृत, व्या.-थानेशचन्द्र उपैति
2. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.381
3. (क) dadadadi.org/old-age-homes-in-Delhi.NCR.html
   (ख) care@dadadadi.org.
4. www.satyamevjayate.com, Season-I, Episode 11th : Old age Sunset Years, Sunshine Life (15 July, 2012).
5. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.501
6. ज्योति, डॉ. विवेक, भारतीय धर्मशास्त्रों में संन्यास आश्रम, पृ.236-246
7. श्रद्धा में 'श्रत्-श्रद्' उपपद रहते क्तडुधाञ् धारणपोषणयो: जुहोत्यादिगणीय धातु (पा.धा., पृ.28) पठित है। इसके साथ 'अण्' प्रत्यय लगने से 'श्राद्ध' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। (चूडादिभ्य उपसंख्यानम् ।। पा.अष्टा., 5/1/110 पर वार्तिक तथा सि.कौ., वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, भाग-I, पृ.289)
8. (क) संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.1035
   (ख) वैदिक कोश, संपा.-सूर्यकान्त, पृ.527
9. प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता।
   नास्ति ह्यश्रद्धधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम्।। श्राद्धतत्त्व (रघुनन्दन), पृ.189
10. ध.सि., श्री काशीनाथ उपाध्याय, तृतीय परिच्छेद उत्त., पृ.736 पर बृहस्पति का वचन
11. या.स्मृ., 1/217 पर मिताक्षरा
12. बृ.परा.स्मृ., 7/110
13. (क) श्राद्धकल्पतरु, पृ.4 (ख) ध.सि., श्री काशीनाथ उपाध्याय, तृतीय परिच्छेद उत्त., पृ. 736 पर उद्धृत ब्रह्मपुराण
14. कठ.उप., 1/3/17
15. ऋ., 10/14/1, 8, 10/15/14, 10/16/5
16. वही, 10/14/9, 10/15/3, 10/16/4
17. (क) ऋ., 1/14/6, 10/15/4, 7, 11 (ख) अथर्व., 18/3/14
18. अथर्व., 18/4/78-80
19. वही, 18/2/49

20. शत.ब्रा., 2/4/2/19 तथा वाज.सं., 2/31, प्रथम पाद
21. शत.ब्रा., 12/8/1/7
22. आप.ध., 2/7/16/1-3
23. बौ.ध., 2/8/14
24. मनु., 3/275
25. (क) मनु., 3/284 (ख) या.स्मृ., 1/269-270
26. शं.स्मृ., 14/33
27. प्रजां पुष्टिं यश: स्वर्गमारोग्यं च धनं यथा।
    नृणां श्राद्धै: सदा प्रीता: प्रयच्छन्ति पितामहा:।। वही, 14/33
28. श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।
    तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षण:।। स्मृ.च. (श्राद्ध), पृ.333 पर सुमन्तु
29. अमावास्या दिने प्राप्ते गृहद्वारं समाश्रिता:।
    वायुभूता: प्रवाञ्छन्ति श्राद्धं पितृगणा नृणाम्।।
    यावदस्तमयं भानो: क्षुत्पिपासासमाकुला:।
    तत श्चास्तं गते भानौ निराशा दु:खसंयुता:।।
    निश्वस्य शुचिरं यान्ति गर्हयन्त: स्ववंशजम् ।। चतु.चिन्ता., परिशेषखण्ड, भाग-1, पृ.236
30. न तत्र वीरा जायन्ते नारोगा न शतायुष: ।
    न च श्रेयोधिगच्छन्ति यत्र श्राद्धं विवर्जितम्।। वही, पृ.237 पर हारीत
31. न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नर:।
    श्राद्धं न कुरुते मोहात् तस्य रक्तं पिबन्ति ते ।। वही, पृ.238 पर ब्रह्मपुराण
32. शं.स्मृ., 13/16
33. अमावास्यां यत्क्रियते तत्पार्वणमुदाहृतम्।
    क्रियते वा पर्वणि यत्तत्पार्वणमिति स्थिति:।। श्राद्धतत्त्व (रघुनन्दन), पृ.192 पर उद्धृत भ.पु.
34. हस्तिच्छायासु यद्दत्तं यद्दत्तं राहुदर्शने। विषुवत्ययने चैव सर्वमानन्त्यमुच्यते।।
    प्रोष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम् । प्राप्य श्राद्धं तु कर्त्तव्यं मधुना पायसेन वा ।। शं.स्मृ., 14/31-32
35. वि.पु., 3/11/118
36. तत्र त्रिपुरुषोद्देशन यत्क्रियते तत्पार्वणम् । या.स्मृ., 1/217 पर मिताक्षरा
37. शं.स्मृ., 4/9-12
38. (क) पितु: पुत्रेण कर्त्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया।
    पुत्राभावे तु पत्नी स्यात्तदभावे तु सोदर:।।
    ध.सि., तृतीय परिच्छेद उत्त., पृ.726 पर उद्धृत शंख का वचन

(ख) बृह.परा.स्मृ., 7/49

39. शं.स्मृ., 13/16
40. शं.स्मृ., 14/31-32
41. वि.ध., 76/1-2
42. मनु., 3/276-277
43. म्लेच्छदेशे तथा रात्रौ संध्यायां च विशेषत:।
न श्राद्धमाचरेत्प्राज्ञो म्लेच्छदेशे न च व्रजेत् ।। शं.स्मृ., 14/30 तथा मनु., 3/280
44. शत.ब्रा., 2/4/2/8
45. आप.ध., 2/7/16/4-7
46. ब्राह्मणान्न परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्रये कर्मणि संप्राप्ते युक्तमाहु: परीक्षणम्।। श.स्मृ., 14/1 तथा मनु., 3/349
47. शीलं संवसनात् ज्ञेयं शौचं संव्यवहारत:।
प्रज्ञा सङ्कथनात् ज्ञेया त्रिभि: पात्रं परीक्ष्यते।।
चतु.चिन्ता., परिशेषखण्ड श्राद्धकल्प: , पृ.345 पर वृ.मनु. एवं म.पु.।
48. शं.स्मृ., 14/5-8
49. (क) आप.ध., 2/7/17/22 (ख) बौ.ध., 2/8/14/2 (ग) मनु., 3/185-186, 145-147
(घ) या.स्मृ., 1/219 (ड़) श्राद्धप्रकाश, पृ.67 पर शंख-लिखित
50. आप.ध., 2/7/17/10 तथा मनु., 3/184-186
51. शं.स्मृ., 14/2-4
52. (क) मनु., 3/150-167, 250-266 (ख) या.स्मृ., 1/222-224
(ग) अ.सं., 345-347 (घ) आप.ध., 2/7/17/21
53. द्वौ दैवे प्रामुखौ त्रीन्वा पित्रये चोदङ्मुखांस्तथा।
भोजयेद्विविधान्विप्रानेकैकमुभयत्र वा।।
भोजयेदथवाऽप्येकं ब्राह्मणं पतितपावनम्।
दैवे कृत्वा तु नैवेद्यं पश्चाद्वह्नौ तु तत्क्षिपेत्।। शं.स्मृ., 14/9-10
54. (क) बौ.ध., 2/8/15/10-11 (ख) मनु., 3/125-126 (ग) या.स्मृ., 1/228
55. श्राद्धं कृत्वा प्रयत्नेन त्वराक्रोधविवर्जित:। शं.स्मृ., 14/12
56. निमन्त्रिस्तु य: श्राद्धे मैथुनं सेवते द्विज:।
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च युक्त: स्यान्महतैनसा।। वही, 14/25
57. मनु., 3/188
58. पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम्।

दानं प्रतिग्रहो होमः श्राद्धं भुक्त्वाऽष्टवर्जयेत् ।। ल.शं.स्मृ., 29

59. (क) या.स्मृ., 1/225 (ख) महा.अनु.प., 10/12-13

60. आम्रमामलकीभिक्षु मृद्वीकादधिदाडिमान्।
बिदार्यश्चैव रम्भाद्या दद्याच्छ्राद्धे प्रयत्नतः।। धानालाजे मधुयुते सक्तूशर्करया सह।
दद्याच्छ्राद्धे प्रयत्नेन शृङ्गाटकविसेतकान् ।। शं.स्मृ., 14/22-23

61. वही, 14/32

62. (क) मनु., 3/271 (ख) या.स्मृ., 1/258

63. शं.स्मृ., 14/16-18

64. वि.ध., 79/18, 5-6

65. दशां विवर्जयेत्प्राज्ञो यद्यप्यहतवस्त्रजाम्।
घृतेन दीपो दातव्यस्तिलतैलेन वा पुनः।। शं.स्मृ., 14/17

66. कालशाकं सशल्कांश्च मांसं वाध्रीणस्य च।
खड्गमांसं तथाऽनन्तं यमः प्रोवाच धर्मवित्।। शं.स्मृ., 14/26

67. आप.ध., 2/8/19/13-14

68. मनु., 5/35

69. श्राद्धं कृत्वा प्रयत्नेन त्वराक्रोधविवर्जितः।
उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत् ।।
अन्यत्र पुष्पमूलेभ्यः पीठकेभ्यश्च पण्डितः।
भोजयेद्विविधान्विप्रान् गन्धमाल्यसमुज्ज्वलान्।। शं.स्मृ., 14/12-13

70. उच्छिष्टसंनिधौ कार्यं पिण्डनिर्वपणं बुधैः।
अभावे च तथा कार्यमग्निकार्यं यथाविधि ।। शं.स्मृ., 14/11

71. मनु., 3/260-261

72. या.स्मृ., 1/241-242

73. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ.1262

74. भोजयित्वा द्विजान्भक्त्या स्वाचान्तान्दत्तदक्षिणान्।
अभिवाद्य पुनर्विप्राननुव्रज्य विसर्जयेत्।। शं.स्मृ., 14/24

75. यत्किंचित्पच्यते गेहे भक्ष्यं वा भोज्यमेव वा।
अनिवेद्य न भोक्तव्यं पिण्डमूले कदाचन ।। वही, 14/14

76. यद्दाति गयाक्षेत्रे प्रभासे पुष्करे तथा।
प्रयागेनैमिषारण्ये सर्वमानन्त्यमश्नुते ।।
गङ्गायमुनयोस्तीरे पयोष्ण्याममरकण्टके।

नर्मदायां गयातीरे सर्वमानन्त्यमुच्यते।

वाराणस्यां कुरुक्षेत्रे भृगुतुङ्गे महालये।

सप्तवेण्यषिकूपे च तदप्यक्षय्यमुच्यते ।। वही, 14/27-29

77. (क) मनु., 2/206-207 (ख) या.स्मृ., 1/227

78. श.स्मृ., 14/30

79. वि.ध., अ.84

80. गोगजाश्वादिपृष्ठेषु कृत्रिमायां तथा भुवि।

न कुर्याच्छ्राद्धमेतेषु पारक्यासु च भूमिषु ।। परा.मा., 1/2, पृ.303 पर शंख का वचन

81. परकीयप्रदेशेषु पितृणां निर्वपेत्तु यः।

तद्भूमिस्वामिपितृभिः श्राद्धकर्म विहन्यते ।।

कृत्यकल्पतरु, श्रा., पृ.115 एवं श्राद्धप्रकाश, पृ.148

82. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ.1270-1271

83. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ.1257

84. सर्वेषामेव श्राद्धानां श्रेष्ठं सांवत्सरं स्मृतम्।

क्रियते यत्खगश्रेष्ठ मृतेऽहनि बुधैः सह।।

स याति नरकं घोरं तामिस्र नाम नामतः।

ततो भवति दुष्टात्मा नगरे सूकरः खग।। भ.पु., 1/183/20, 25

85. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.1024

86. (क) ऋ., 8/95/7-9, 7/56/12

(ख) हलायुधकोशः, संपा.-जयशंङ्करजोशी, पृ.665 (शुचिः शब्द)

87. (क) अथाष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति, यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात्मगुणा अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यज्य गच्छति ।। गौ.ध., 8/24 तथा गौ. स्मृ., 8/4

88. वेदबोधित-कर्हिता शुद्धिः। शुद्धिकौमुदी, पृ.1

89. (क) मनु., 5/57, 83 (ख) या.स्मृ., 3/14, 25 (ग) द.स्मृ., 6/7

90. (क) इगन्ताच्च लघुपूर्वात् । पा.अष्टा., 5/1/131

(ख) शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। न शौचम् अशौचम्। सि.कौ., वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, भाग-1, पृ.292 (ग) नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्। पा.अष्टा., 7/3/30

91. (क) जनने मरणे नित्यमाशुच्यमनुधावति । दे.स्मृ., हारलता, पृ.2

(ख) आशुच्यं दशरात्रं तु सर्वत्राप्यपरे विदुः। वही, शुद्धि.,पृ.41

92. श.स्मृ., 15/11-12

93. मनु., 5/84

94. ऋ., 1/97/1-8

95. किं पुनरिदमाशौचलक्षणम्। कर्मण्यनधिकारोऽभोज्यान्नऽस्पृश्यता दानादिष्वनधिकारिता। गौ. ध., 2/5/1 पर मिताक्षरा टीका

96. पराशौचे नरो भुक्त्वा कृमियोनौ प्रजायत।
भुक्त्वाऽन्नं म्रियते यस्य तस्य योनौ प्रजायते।।
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायः पितृकर्म च।
प्रेतपिण्डक्रियावर्जमशौचे विनिवर्तते ।। शं.स्मृ. 15/24-25

97. या.स्मृ., 3/1 पर मिताक्षरा

98. (क) शं.स्मृ., 15/1
(ख) अशौचं द्विविधं कर्मानधिकारलक्षणं स्पृश्यत्वलक्षणं च। स्मृतिमुक्ताफल, पृ.477

99. जनने मरणे चैव सपिण्डानां द्विजोत्तमः।
त्रयहाच्छुद्धिमवाप्नोति योऽग्निवेदसमन्वितः।।
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
नामधारकविप्रस्तु दशाहेन विशुध्यति।।
क्षत्रियो द्वादशाहेन वैश्यः पक्षण शुद्धयति।
मासेन तु तथा शूद्रः शुद्धिमाप्नोति नान्तरा।। शं.स्मृ., 15/1-3

100. मनु., 5/83 एवं अ.सं., 85

101. या.स्मृ., 3/22

102. आ चतुर्था वेत् स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः।
अत उर्ध्वं प्रसूतिः स्याद् दशाहं सूतकं भवेत् ।। परा.स्मृ., 3/21

103. शं.स्मृ., 15/3-4 तथा या.स्मृ., 3/20, 22

104. शं.स्मृ., 15/15

105. हीनवर्णात्तु या नारी प्रमादात्प्रसवं व्रजेत् ।
प्रसवे मरणे तज्जमशौचं नोपशाम्यति ।। वही, 15/9

106. समानं खल्वशौचं तु प्रथमेन समापयेत्।
असमानं द्वितीयेन धर्मराजवचो यथा।। वही, 15/10

107. बौ.ध., 1/5/11/21

108. भृग्वग्न्यनशनाम्भोभिर्मृतानामात्मघातिनाम्।
पतितानां च नाशौचं शस्त्रविद्युद्धताश्च ये।।
यतिव्रतिब्रह्मचारिनृपकारुकदीक्षिताः।
नाशौचभाजः कथिता राजाज्ञाकारिणश्च ये।। शं.स्मृ., 15/21-22

109. यस्तु भुङ्क्ते पराशौचे वर्णी सोऽप्यशुचिर्भवेत्।

अशौचशुद्धौ शुद्धिश्च तपस्याप्युक्ता मनीषिभि:।। वही, 15/23

110. पराशौचे नरो भुक्त्वा कृमियोनौ प्रजायत
भुक्त्वाऽन्नं म्रियते यस्य तस्य योनौ प्रजायते।। वही, 15/24

111. अजातदन्तबाले तु सद्य: शौचं विधीयते।।
अहोरात्रात्तथा शुद्धिर्बाले त्वकृतचूडके।
तथैवानुपनीते तु त्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवा:।। वही, 15/4-5

112. (क) मनु., 5/67 (ख) या.स्मृ., 3/23 (ग) परा.स्मृ., 3/25

113. मनु., 5/68-69

114. या.स्मृ., 3/1

115. परा.स्मृ., 3/19, 24

116. अनूढानां तु कन्यानां तथैव शूद्रजन्मनाम् ।
अनूढभार्य: शूद्रस्तु षोडशाद्वत्सरात्परम्।।
मृत्युं समधिगच्छेच्चेन्मासात्तस्यापि बान्धवा:।
शुद्धिं समभिगच्छेयुर्नात्र कार्या विचारणा।।
पितृवेश्मनि या कन्या रज: पश्यत्यसंस्कृता ।
तस्यां मृतायां नाशौचं कदाचिदपि शाम्यति ।। शं.स्मृ., 15/6-8

117. मनु., 5/72

118. या.स्मृ., 3/24

119. अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च।
परपूर्वासु च स्त्रीषु त्रयहाच्छुद्धिरिहेष्यते ।।
गृहे दत्तासु कन्यासु मृतासु च त्रयहस्तथा। शं.स्मृ., 15/13-14

120. या.स्मृ., 3/25

121. वि.ध., 22/32-34

122. द.स्मृ., 6/17

123. शं.स्मृ., 15/9

124. (क) मनु., 10/41
(ख) प्रतिलोमानां त्वाशौचाभाव एव, 'प्रतिलोमा धर्महीना:' इति मनुस्मरणात्। केवलं मृतौ
प्रसवे च मलापकर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत् शौचं भवत्येव ।। या.स्मृ.,3/22 पर मिताक्षरा व्याख्या में उद्धृत

125. देशान्तरगत: श्रुत्वा कुल्यानां मरणो वौ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ।। अतीते दशरात्रे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । तथा संवत्सरेऽतीते स्नान एवं विशुध्यति ।। शं.स्मृ., 15/11-12

126. मनु., 5/75-76 तथा परा.स्मृ., 3/14

127. मनु., 5/77

128. या.स्मृ ,3/21

129. अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च।
मतामहे व्यतीते तु आचार्ये च तथा मृते।
निवासराजनि प्रेते जाते दौहित्रके गृहे।
आचार्यपत्नीपुत्रेषु प्रेतेषु दिवसेन च।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यविग्बान्धवेषु च ।
सब्रह्मचारिण्येकाहमनूचाने तथा मृते । (श स्म), 15/13-16

130. मनु., 5/80-81

131. या.स्मृ., 3/24-25

132. द.स्मृ., 6/19

133. शं.स्मृ., 16/19-20

134. (क) द.स्मृ., 5/2 (ख) बा.स्मृ., 20

135. शौचज्य द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरन्तया। द.स्मृ., 5/3

136. श.स्मृ., 16/23

137. (क) मनु., 5/136 (ख) द.स्मृ., 5/5

138. शं.स्मृ., 16/22-23

139. शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला।
दैवे कर्मणि पित्रये च पञ्चमेऽहनि शुध्यति ।। वही, 16/16

140. द.स्मृ., 5/3

141. (क) बौ.ध. 1/5/8/2 (ख) मनु. 5/107-109 (ग) या.स्मृ., 3/31-34

142. द.स्मृ., 5/4

143. (क) द्रव्यस्य दोषापगमः शुद्धि । अपरार्क, पृ.252-253
(ख) तत्राशुद्धिर्नाम द्रव्यादेः स्पर्शनाद्यनर्हतापादको दोषविशेषः। शुद्धिमत एव च
सकलकर्मोपयोगित्वम्। चतु.चिन्ता., परिशेषखण्ड श्राद्धकल्प, पृ.368

144. देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत्।। या.स्मृ1/190, मिताक्षरा व्याख्या में उद्धृत बौधायन

145. (क) मनु., 5/126 (ख) या.स्मृ., 1/191

146. मृण्ययं भाजनं सर्वं पुनः पाकेन शुध्यति।
मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैश्च ष्ठीवनैः पूयशोणितैः।।

संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनः पाकेन मृण्मयम्। एतैरेव तथा स्पृष्टं ताम्रसौवर्णराजतम्।।।
शुध्यत्यावर्तितं पश्चादन्यथा केवलाम्भसा।
आम्लोदकेन ताम्रस्य सीसस्य त्रपुणस्तथा।
क्षारेण शुद्धिः कांस्यस्य लोहस्य च विनिर्दिशेत् ।।
मुक्तामणिप्रवालानां शुद्धिः प्रक्षालनेन तु।
अब्जानां चैव भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च।
मार्जनाद्यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।
उष्णाम्भसा तथा शुद्धिं सस्नेहानां विनिर्दिशेत् ।। शं.स्मृ., 16/1-5

147. मनु., 5/116-117
148. गोवालैः फलपात्राणामस्थ्नां शृङ्गवतां तथा। शं.स्मृ., 16/9
149. मनु., 5/111-117 तथा या.स्मृ., 1/182-183, 185, 187, 190
150. शाकमूलफलानां च विदलानां तथैव च।।
बहुनां प्रोक्षणाच्छुद्धिर्धान्यादीनां विनिर्दिशेत् ।
निर्यासानां गुडानां च लवणानां तथैव च।
कुसुम्भकुङ्कुमानां च ऊर्णाकार्पासयोस्तथा।
प्रोक्षणात्कथिता शुद्धिरित्याह भगवान्यमः। शं.स्मृ., 16/4, 8, 10-11
151. मनु., 5/118
152. मार्जनाद्वेश्मनां शुद्धिः क्षितेः शोधस्तु तत्क्षणात् । शं.स्मृ., 16/7
153. मनु., 5/124
154. या.स्मृ., 1/188
155. संमार्जितेन तोयेन वाससां शुद्धिरिष्यते।। शं.स्मृ., 16/7 एवं 10
156. मनु., 5/120-121 तथा या.स्मृ., 1/186-187
157. वेणुवल्कलचीराणां क्षौमकार्पासवाससाम्।।
और्णानां नेत्रपट्टानां जलाच्छौचं विधीयते।। परा.स्मृ.,7/31
158. शयनासनयानानां स्फ्रयशूर्पशकटस्य च।
शुद्धिः संप्रोक्षणाद्यज्ञे कटकेन्धनयोस्तथा।
प्रोक्षणात्संहतानां च दारवाणां च तत्क्षणात्।।
सिद्धार्थकानां कल्केन शृङ्गदन्तमयस्य च । शं.स्मृ., 16/6, 8-9
159. मनु., 5/117, 121-122
160. या.स्मृ., 1/184-185
161. भूमिष्ठमुदकं शुद्धं शुचि तोयं शिलागतम्।

वर्णगन्धरसैर्दुष्टैर्वर्जितं यदि त वेत।
शुद्धं नदीगतं तोयं सवदैव तथाऽऽकरम्।।
शुद्ध प्रसारितं पण्यं शुद्धे चाजाश्वयोर्मुखे।
मुखवजं तु गौः शुद्धा मार्जारश्चाऽऽश्रमे शुचिः।।
शय्या भार्या शिशुवस्त्रमुपवीतं कमण्डलुः।
आत्मनः कथितं शुद्धं न शुद्धं हि परस्य च।।
नारीणां चैव वत्सानां शकुनीनां शुना मुखम्।
रात्रौ प्रस्रवणे वृक्षे मृगयायां सदा शुचि ।। शं.स्मृ., 16/11-15

162. मलसंयोगजं तज्जं यस्य येनोपहन्यते।
तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं सामान्यं द्रव्यशुद्धिकृत् ।। अपरार्क, पृ. 256 तथा या.स्मृ., 1/190 पर शंख (या.स्मृ. की टीका दीपकलिका)
163. सर्वेषामापो मृदरिष्टकेंगुदबिल्वतण्डुलसर्षपकल्कक्षारगोमूत्रगोमयादीनि शौचद्रव्याणि संहतानां प्रोक्षणमित्येके । चतु.चिन्ता.,जिल्द 3, भाग-I, पृ.817 पर शंख-लिखित
164. मनु., 5/127-133, 118
165. या.स्मृ., 1/187, 191-194
166. परा.स्मृ., 7/34-35, 37-38 एवं 10/42
167. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
168. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधिः, प्र.सं.2010, पृ.116
169. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
170. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री', तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16
171. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
172. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनमुद्रण, सं.2064, पृ.15-16
173. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
174. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधिः, पं.सं.2010, पृ.116
175. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
176. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-III, पृ.1159
177. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
178. (क) पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी. अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16

(ख) गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, प्र.सं.2010, पृ.410
179. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
180. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16
181. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, प्र.सं.2010, पृ.410
182. पंचांगदिवाकर, विं.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183 ।
183. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16-17
184. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
185. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
186. गौड़, डॉ. अशोक कुमार, वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.410-411
187. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मंदिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
188. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मंदिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
189. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, प्र.सं.2010, पृ.414
190. (क) पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
(ख) गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.412
191. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.414
192. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
193. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
194. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.412
195. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
196. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16
197. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.218-220
198. hi.wikipedia.org/wiki/गहप्रबन्ध-last edited 5 months agobyAnunaad Singh.
199. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.217
200. hi.wikipedia.org/wiki/गृहप्रबन्धस्त्र last edited 5 Anunaad Singh. months ago by
201. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.218
202. https://hi-infacebook.com/...../...../ (True Indian, 29 Oct.2013).
203. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.216

204. m.boldsky.com/.../ cleaning Pearl Jewelry, Posted by : Purnima,. Monday 5 March, 2012, 10:55.
205. श्रीमाली, पं. राधा कृष्ण, ज्योतिष और रत्न, पृ.61
206. m.boldsky.coms/maintain-gemstone. (रत्नों के आभूषणों का रखरखाव_Lifestyle Boldsky.com)
207. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्रसं.2002, पृ.234
208. https://www.facebook.com.../287874704 (Acharya Santosh Santoshi,
209. hi.wikipedia.org/ TEYCHET. last edited 5 month's ago by Anunaad Singh.
210. hi.wikipedia.org/wiki/सूखी-धुलाई
211. hi.bharatdiscovery.org/.../ऊनी वस्त्र
212. hi.wikipedia.org/wiki/गृहप्रबन्ध, last edited 5 months ago by Anunaad Singh.
213. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology). प्र.सं. 2002, पृ.212
214. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं. 2002, पृ.214-215